विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक

रामसिंह तोमर

खण्ड ९
अंक ३

आश्विन-मार्गशीर्ष, २०२५
अक्टूबर-दिसंबर, १९६८

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्य नैकः ।

अथेयं विश्वभारती । यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् । प्रयोजनम् अस्या समासतो व्याख्यास्यामः । एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम् । पन्थाः पुनरस्यः नैकः । विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते । प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः । द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः । एतस्यैवक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः । सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते ।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष, २०२५ खण्ड ६, अंक ३ अक्टूबर-दिसंबर १९६८

विषय-सूची

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम से)

कैलासनाथ द्विवेदी—अध्यापक तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जनता महाविद्यालय, अजीतमल, इटावा, उत्तर-प्रदेश।

म० म० प० गोपीनाथ कविराज—काशी।

गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'—अध्यापक, स्नातकोत्तर विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

छोटेलाल त्रिपाठी—अध्यापक, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

द्विजराम यादव—रिसर्च-स्कालर, हिन्दी-भवन, विश्वभारती।

पारसनाथ तिवारी—अध्यापक, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग।

रामकुमार भुवालका—भूतपूर्व सदस्य राज्यसभा, १५, इण्डिया एक्सचेंज, कलकत्ता।

रामसिंह तोमर—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

शशिभूषण सिंहल—अध्यापक, हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र।

सूर्यकुमार योगी—रिसर्च फेलो, हिन्दी विभाग, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

विश्वभारतीपत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२५ खण्ड ९, अक ३ अक्टूबर-दिसबर १९६८

यथास्थान

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कोन् हाटे तुइ बिकोते चास,
　　ओरे आमार गान,
　　कोन्खाने तोर स्थान।
　　　पण्डितेरा थाकेन जेथाय
　　　विद्येरत्नपाड़ाय —
　　नस्य उड़े आकाश जुड़े,
　　　काहार साध्य दाँड़ाय,
　　चलछे सेथाय सूक्ष्म तर्क
　　　सदाइ दिवारात्र
　　पात्राधार कि तैल किम्बा
　　　　तैलाधार कि पात्र—
　　पुँथीपत्र मेलाइ आछे
　　　　मोहध्वान्तनाशन,
　　तारि मध्ये एकटि प्रान्ते
　　　पेते चास कि आसन।
　　　　　　　　गान ता शुनि गुञ्जरिया
　　　　　　　　　गुञ्जरिया कहे—
　　　　　　　　　　　　नहे नहे नहे॥

कोन् हाटे तुइ बिकोते चास
ओरे आमार गान,
कोन् दिके तोर टान।
पाषाण-बाँधा प्रासाद-'परे
आछेन भाग्यवन्त,
मेहागिनिर मञ्च जुड़ि
पञ्च हाजार ग्रन्थ—
सोनार जले दाग पड़े ना,
खोले न केउ पाता,
अ स्वादित मधु जेमन
जुथी अनाघ्राता।
भृत्य नित्य धुला झाड़े,
यत्न पुरामात्रा,
ओरे आमार छन्दोमयी
सेथाय करबि यात्रा ?
गान ता शुनि कर्णमूले
मर्मरिया कहे—
नहे नहे नहे

कोन् हाटे तुइ बिकोते चास
ओरे आमार गान,
कोथाय पाबि मान।
नवीन छात्र झुँके आछे,
एकजामिनेर पड़ाय,
मनटा किन्तु कोथा थेके,
कोन् दिके जे गड़ाय।
अपाठ्य सब पाठ्य केताब
सामने आछे खोला,

कर्तृजनेर मये काव्य
कुलुंगिते तोला—
सेइ खानेते छेँडाछड़ा
एलोमेलोर मेला,
तारि मध्ये ओरे चपल
करबि कि तुई खेला ?
गान ता शुने मौनमुखे
रहे द्विधार भरे—
जाब-जाब करे ॥

कान् हाटे तुई बिकोते चास
ओरे आमार गान,
कोथाय पाबि त्राण ।
भाण्डारेते लक्ष्मी वधू,
जेथाय आछे काजे,
घरे धाय से छुटि पाय से
जखन माझे माझे,
बालिशतले बइटि चापा,
टानिया लय तारे—
पानागुलिन छेँड़ाखोँड़ा
शिशुर अत्याचारे,
काजल आँका सिँदूर-माखा
चुलेर-गन्धे-भरा
शय्याप्रान्ते छिन्नवेशे
चास कि जेते त्वरा !
बुकेर परे निश्वसिया
स्तब्ध रहे गान—
लोभे कम्पमान ॥

कोन् हाटे तुई बिकोते चास
ओरे आमार गान,
कोथाय पावि प्राण।
जेथाय सुखे तरुण युगल
पागल हये बेड़ाय,
आड़ाल बुझे आँधार खुँजे
सबार आँखि एड़ाय,
पाखि तादेर शोनाय गीति,
नदी शोनाय गाथा,
कत रकम छन्द शोनाय
पुष्प-लता-पाता—
सेइखानेते सरल हासि
सजल चोखेर काछे—
विश्वबाँसिर ध्वनिर माझे
जेते कि साध आछे?
हठात् उठे उच्छ्वसिया
कहे आमार गान—
सेइखाने मोर स्थान॥

यथास्थान

(हिन्दी छाया)

ओ रे मेरे गीत ! तुम किस हाट में बिकना चाहते हो, तुम्हारा स्थान कहाँ है। विद्यारत्न मुहल्ले में, जहाँ पण्डित लोग रहते हैं, आकाश को घेरी हुई नस्य उड़ रही है, (वहाँ) खड़े होने का किसमें साहस है, वहाँ सदा दिनरात सूक्ष्म तर्क होता रहता है—पात्राधार तेल है अथवा तैलाधार पात्र है, मोहध्वान्तनाशन अनेक पोथीपत्र वहाँ हैं, उन्हीं के बीच एक कोने में तुम स्थान पाना चाहते हो। यह सुनकर गान ने गुंजार किया। गुंजारते हुए कहा—नहीं, नहीं, नहीं।

ओ रे मेरे गीत ! तुम किस हाट में बिकना चाहते हो, तुम्हारा आकर्षण किस ओर है। पत्थर से निर्मित प्रासाद की ओर, (जहाँ) भाग्यवान हैं, मेहोगनी निर्मित मञ्च पर पाँच हज़ार ग्रन्थ हैं—(जिन पर) सोने के पानी पर दाग नहीं पड़ता, (जिनका) कोई पन्ना नहीं खोलता, जिस प्रकार अ-स्वादित शहद हो या अनाघ्रात यूथिका हो। भृत्य नित्य प्रति धूल झाड़ता है, पूरी मात्रा में यत्न किया जाता है, ओरे मेरी छन्दोमयी ! वहाँ यात्रा करेगी ? यह सुनकर गीत ने कान के पास मर्मर करते हुए कहा—नहीं, नहीं, नहीं।

ओ रे मेरे गीत ! तुम किस हाट में बिकना चाहते हो, कहाँ (तुम्हें) सम्मान मिलेगा। (जहाँ) परीक्षा की पढ़ाई में नया छात्र झुकी मुद्रा में बैठा है, किन्तु मन (न जाने) कहाँ से किस ओर ढलकता है। पाठ्य सब अपाठ्य किताबें सामने खुली हुई हैं, अभिभावकों के डर से काव्य ताख में रखा हुआ है—वहाँ फटी पुरानी अस्तव्यस्त चीजों का मेला लगा है। अरे चपल ! क्या उन्हीं के बीच में तू खेलेगा ? यह सुनकर गीत द्विविधा में मौन हो—जाने-जाने को करता है।

ओ रे मेरे गीत ! तुम किस हाट में बिकना चाहते हो, वहाँ तुम्हें त्राण मिलेगा। भण्डार में जहाँ लक्ष्मी वधू काम में लगी हुई है जैसे ही बीच बीच में वह छुट्टी पाती है घर को दौड़ती है, तकिए के नीचे पुस्तक ढकी रखी है, उसे खींच लेती है, शिशु के अत्याचार से पन्ने फटेफूटे हैं, काजल से रंगे सिंदूर से केशों की गन्ध से भरे शैया के ऊपर छिन्नवेश में

क्या तुम शीघ्र जाना चाहते हो। दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए गान स्तब्ध रह गया—लोभ से कम्पित ॥

ओ रे मेरे गीत! तुम किस हाट में बिकना चाहते हो, कहाँ तुम्हे प्राण मिलेगे। जहाँ सुख में तरुण-युगल पागल हुए घूम रहे हैं, आड़ को जान कर अंधेरा खोज कर सब को आँखों से बचते हैं, पक्षी उनको गाना सुनाते हैं, नदी गाथा सुनाती है, पुष्प, लता, पत्ते (न जाने) कितने प्रकार के छन्द सुनाते हैं, वहाँ सरल हँसी है—सजल नेत्रों के समीप, विश्व वंशी की ध्वनि के बीच जाने की क्या तुम्हारी साध है? हठात् उच्छ्वसित होकर मेरे गीत ने कहा—वहीं मेरा स्थान है।

आत्मा का पूर्ण जागरण व उसकी परिणति

म० म० गोपीनाथ कविराज

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि इस जगत् में सब आत्मा वास्तविक जाग्रत् अवस्था में नहीं हैं। वे मायिक जगत् में अज्ञान के आवरण द्वारा आच्छन्न हो कर मोहनिद्रा में सोए हुए हैं। वे जब तक इस मोहनिद्रा से उठेंगे नहीं, तब तक मायातीत चिन्मय सत्ता का अनुभव नहीं कर पायेंगे—चिन्मय दिव्य जगत् में सञ्चरण तो दूर की बात है। ठीक इसी प्रकार इस जगत् में ऐसे महापुरुष-रूपी आत्मा भी हैं जो संयमी होने के कारण इस मोहमय जगत् को नहीं देख पाते। उनकी दृष्टि निरन्तर चिद्भूमि में ही पड़ रही है। वे चिदाकाश एवं उसके ऊर्ध्ववर्त्ती चिन्मय राज्य का निरन्तर दर्शन किया करते हैं।

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ (गी० २)

इस श्लोक में संयमी अथवा प्रबुद्ध एवं मूढ़ अथवा निद्रित आत्माओं का वैशिष्ट्य वर्णित हुआ है।

इससे प्रतीत होता है कि जगत् के अधिकांश जीव सोए हुए हैं। हम लोगों के प्रचलित जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इस नींद के ही प्रकार-भेद-मात्र हैं। अर्थात् हम व्यवहार भूमि में जिसे जाग्रत अवस्था कहते हैं, समझते हैं, वह भी वस्तुतः जाग्रत नहीं है। विज्ञान की दृष्टि से वह निद्रा के ही अन्तर्गत है। इस प्रसङ्ग में यह स्मरण रखना होगा कि मनुष्य-मात्र के जीवन का लक्ष्य है इस मोह-निद्रा से जाग उठना एवं तब ऊपर की ओर क्रमविकास के फलस्वरूप जीवभाव से शिवभाव में उन्नीत होना व आत्मा का पूर्णत्व पाना। आचार्य शङ्कर ने अपने दक्षिणामूर्त्ति-स्तोत्र में स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि इस मोहनिद्रा से जो जीव को जगा देते हैं, वे ही वास्तव में सद्गुरु हैं। जीव जब पूर्णरूप से जाग उठता है तब सबसे पहले अनुभव करता है कि यह जगत उसके बाहर नहीं है, किन्तु उसके भीतर ही है। स्वच्छ दर्पण में जैसे विराट नगर प्रतिबिम्बित होता है एवं वह प्रतिबिम्बित नगर जैसे दर्पण के भीतर ही है, दर्पण से बाहर नहीं, ठीक उसी प्रकार समग्र विश्व को ही आत्मा-रूप स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित समझना होगा। वस्तुतः यह विश्व द्रष्टा आत्मा के अपने आपके ही अन्तर्गत है एवं उसके बाहर स्थित नहीं है। मायावशतः, भीतर की वस्तु को भीतर न देख कर बाहर देखा जाता है। सद्गुरु जब शुद्धविद्या का सञ्चार करके जीव को मोहनिद्रा से जगा देते हैं, तब जीव अपने आत्मस्वरूप में प्रबुद्ध होकर समग्र विश्व को अपने अन्तर्गत रूप से प्रत्यक्ष अनुभव कर

पाता है। स्मरण रखना होगा कि इस तथाकथित बाह्य जगत् से आन्तर जगत् में प्रवेश करना ही साधना का उद्देश्य है एवं गुरु कृपा का भी वही एकमात्र लक्ष्य है।

यह जो आन्तर जगत में प्रवेश की बात कही गई, इसमें कुछ क्रम विद्यमान है। प्रथमत अज्ञान-जगत से ज्ञान जगत में प्रविष्ट होना होता है। उसके बाद परासंवित में नित्यधाम की प्राप्ति घटित होती है। अज्ञान के जगत् में अवस्थिति के समय अनुभव होता है कि यह जगत् भेदज्ञान द्वारा अनुप्राणित है। किन्तु जब गुरु-कृपा से ज्ञान का उदय होता है तब समझ में आता है कि वास्तव में ज्ञेय वस्तु बाहर नहीं है। ज्ञेय वस्तु बाहर है यह ज्ञान भ्रम है। इस मार्ग में प्रविष्ट होने पर देखने में आता है कि ज्ञेय पदार्थ वस्तुत साकार ज्ञान ही है—यही बाह्य अथवा स्थूल रूप में कल्पित हुआ है। हम जिसका 'माया' नाम से उल्लेख करते हैं, वह क्रियाशक्ति का ही नामान्तर है। इसके प्रभाव से ही साकार ज्ञान बाह्य पदार्थ रूप में प्रतीयमान होता है। ज्ञानराज्य में ज्ञान ही एक प्रान्त (छोर) में साकार ज्ञान या ज्ञेयरूप में भासमान होता है एक अन्य प्रान्त (छोर) पर यह ज्ञान ही ज्ञाता रूप में आत्मप्रकाश करता है। ज्ञानराज्य का अतिक्रम करना हो तो ज्ञान के इस ज्ञेयभाव व ज्ञातृभाव को दूर करना आवश्यक है। यह कर पाने पर ज्ञान विशुद्ध होता है।

इस विशुद्ध ज्ञान का अवलम्बन करके ज्ञानराज्य से सविद्राज्य में प्रवेश करना होता है। माया या अज्ञानराज्य में भेदज्ञान प्रबल है। ज्ञानराज्य में भेदाभेद-ज्ञान विद्यमान रहता है, किन्तु संविद्राज्य में भेद का लेश भी नहीं है। यह अभेदज्ञान की अद्वैतभूमि है। यह तुरीय, राजा रूप में वर्णित होने योग्य है। इसके बाद अखण्ड प्रकाश है, जिसको तुरीयातीत कह सकना भी सभव नहीं।

मनुष्य जीवन का प्रकृत उद्देश्य है रूपान्तर प्राप्त करना—यह व्यापार गुप्त रूप से सम्पादित हुआ करता है। इस कारण गुप्तपथ में प्रवेश करना होता है। गुप्तधाम का व्यापार वस्तुत ही रहस्य है।

यह जो रूपान्तर की बात कही गई, इसी का नाम है जागरण। पूर्ण रूपान्तर अथवा अखण्ड महाप्रकाश रूप में विश्राम है। मायाराज्य में आत्मा भेदज्ञान से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ की विद्या अशुद्ध विद्या है,—यह माया का कञ्चुक है। इसके बाद कला का नियन्त्रण भी है, एव अन्यान्य कञ्चुकों का आवरण भी है। अन्तजगत में प्रवेश का प्रथम उपाय शुद्ध विद्या का उन्मेष है। इसके फलस्वरूप पशुत्व निवृत्त होता है। पशुभाव में अवस्थित पुरुष को सवित मार्ग में प्रवेश का अधिकार नहीं प्राप्त होता, अर्थात् शुद्धविद्या प्राप्त न होने तक महाशक्ति-मार्ग में प्रवेश असम्भव है।

(२)

आत्मा की विभिन्न प्रकार की अवस्था समझने के लिए प्रतीति के भेद का विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रतीति के अनुसार ही किसी प्रमाता आत्मा को अप्रबुद्ध अथवा निद्रित कहा जाता है एवं अन्य किसी प्रमाता को अप्रबुद्ध न कह कर अप्रबुद्धकल्प कहा जाता है।

यह विश्व-भुवन (जो महामाया व माया के अन्तर्गत है) अनाश्रित शिव से कालाग्नि रुद्र पर्यन्त विस्तृत है अर्थात समग्र विश्व के ऊर्ध्व शिखर पर अनाश्रित शिव विद्यमान हैं एवं सबसे नीचे कालाग्नि रुद्र क्रीड़ा कर रहे हैं। यह विश्व प्रकाशात्मक है, इसलिए यद्यपि यह प्रकाश की भित्ति में लग्न है, तथापि भवी आत्मा अर्थात अप्रबुद्ध आत्मा समझता है कि सब कुछ इसके बाहर है। 'भव' कहने से यहाँ भेदज्ञान समझना चाहिये। भेदज्ञान-सम्पन्न सिद्ध आत्मा भी 'भवी' नाम से अभिहित होता है। ये माया द्वारा अभिभूत रहते हैं, इस कारण अभिन्न वस्तु में इन्हें भिन्न ज्ञान (अभिन्न वस्तु को भिन्न जैसा देखना) होता है।

भविगणों के ऊपर और एक प्रकार के आत्मा हैं—इन्हें भेदज्ञान नहीं है। किन्तु भेदज्ञान न रहने पर भी उसका संस्कार रहता है। इनको 'भव-पदी' नाम भी कोई-कोई देते हैं। ये सब आत्मा शुद्ध विद्या-पद पर अनुप्रविष्ट हैं एवं कोई-कोई सम्प्रज्ञात समाधि के स्तर पर विद्यमान रहते हैं। ये सब आत्मा शुद्ध विद्या के प्रभाव से आन्तरिक संस्कारादि का भिन्न (वस्तु) के समान अनुभव करते हैं। इनमें दो श्रेणियाँ हैं। कोई-कोई बाह्यज्ञान रहित हैं, और किसी-किसी को बाह्यज्ञान रहता है। जिनको बाह्यज्ञान रहता है, उन्हें परासंवित् तत्व का उपदेश दिया जा सकता है। ये पशु होने पर भी योग्य पशु हैं, क्योंकि ये अधिकारी हैं। ये सब चिद् अणु ऐसा समझते हैं कि ग्राह्य व ग्राहक रूप से विश्व के दो विभाग हैं। जो अंश ग्राहक है, वह अजड़ और चिन्मय है एवं जो अंश ग्राह्य है, वह जड़ व अचित् है। इस जाति के पशु माया द्वारा मोहित नहीं होते, क्योंकि यह जो ग्राह्य वस्तु को जड़ तथा स्वयं से भिन्न समझना है—यही माया है, ये पशु अपने स्वरूप को नहीं पहचान पाते। ये भी पूर्व-वर्णित 'भवी-आत्मा' के अन्तर्गत हैं।

दो प्रकार के प्रमाताओं की बात कही गई। इनमें से कोई भी प्रबुद्ध नहीं है। इसके बाद प्रबुद्ध नामक तृतीय प्रकार का प्रमाता आलोचनीय है। इन सब आत्माओं को द्विपदी कहा जा सकता है, क्योंकि एक ओर जैसे इनका भव संस्कार है, वैसे ही दूसरी ओर उद्भव-संस्कार भी है। ये प्रमाता भेदाभेद-दशा में अवस्थित हैं। ये एक ओर जिस प्रकार जड़-भावात्मक इदन्ता का आश्रयण करते हैं, वैसे ही दूसरी ओर चिद्भावात्मक अहन्ता भी प्राप्त

करते हैं। सुतरां इनकी अनुभूति 'यह' व 'मैं' इन दोनों की सामानाधिकरण्य है। अर्थात ये अहंभाव में आरोपण करके, अनुभव के भेदांश को डुबा कर 'इद अह' रूप बोध प्राप्त करते हैं। ये विश्व को अपने शरीर के समान देखते हैं, जिसमें भेद भी रहता है, अभेद भी। योगि-गण इसको ईश्वर की अवस्था कहते हैं। यह हुआ प्रबुद्ध आत्मा का विवरण।

प्रबुद्ध अवस्था से सुप्रबुद्ध अवस्था तक आत्मा की उन्नति आवश्यक है। किन्तु प्रबुद्ध दशा से सुप्रबुद्ध दशा में जाने के लिए पहले एक मध्य अवस्था प्राप्त करना, फिर उसका त्याग करके अग्रगति पाना होता है। अभेदज्ञान अथवा कैवल्य 'उदभव' नाम से परिचित है। जो इस अवस्था को प्राप्त करते हैं, उनके निकट इद रूपी प्रकृति का विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अह रूपी आन्तरिक पद में निमग्न हो जाता है। इस निमग्न भाव की प्रकृति को 'निमेष' कहा जाता है। यह विमर्श शक्ति द्वारा घटित होता है।

यह अवस्था सदाशिव की स्थिति के अनुरूप है—इसमें अहंभाव द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव विद्यमान रहता है। यह अवस्था स्थायी नहीं है। जब यह आविर्भूत होती है, तब अपने स्वरूपभूत प्रकाश में एक बार मग्न और उसके बाद उन्मग्न—इन दोनों रूपों का ही अनुभव होता है। मग्न रूप को निमेष कहा जाता है एवं उन्मग्न रूप को उन्मेष कहा जाता है जैसे समुद्र में कभी तरङ्गादि उठती हैं और कभी लीन हो जाती हैं, पर दोनों दशाओं में समुद्र समुद्र ही रहता है, ठीक उसी प्रकार शिवादि विश्व प्रकाशात्मक रूप में ही प्रकाश रूप से उन्मीलित होता है, और फिर प्रकाश में ही विलीन हो जाता है। यह अवस्था प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध इन दोनों अवस्थाओं के अन्तराल की है। इसको उन्मना अवस्था कहा जाता है।

उन्मना द्वारा जब स्वरूप में अवस्थिति होती है तब इस स्थिति को ही उन्मना नाम से निर्देश किया जाता है। जब उन्मना द्वारा पूर्णत्व सिद्धि अविच्छिन्न होती है, तब योगी सिद्ध व सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में स्थित होने पर मन की कोई क्रिया नहीं रहती। अर्थात मन का चाञ्चल्य इसको कदापि स्पर्श नहीं करता।

योगी जब सुप्रबुद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं तब उनकी इच्छा मात्र से अभीष्ट विभूति का आविर्भाव होता है। साधारणत इसको ही इच्छाशक्ति कहा जाता है।

इससे यह समझा जा सकता है कि योगी के इच्छा करते ही वह इच्छा शक्ति का रूप धारण नहीं करती। क्योंकि मन का अतिक्रम न कर पाने तक आत्मा का जागरण पूर्ण नहीं होता, एवं आत्मा के पूरी तरह जाग न उठने तक, अर्थात मन से सम्पूर्ण मुक्त न होने पर उसकी इच्छा इच्छाशक्ति का रूप नहीं धारण करती।

यह जो सिद्धि की बात कही गई, यह नाना प्रकार की है, एवं इसका आविर्भाव भी

विभिन्न उपायों से हुआ करता है। इन सब सिद्धियों को अपरसिद्धि व परसिद्धि इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। अपरसिद्धि निम्नस्तर की है और परसिद्धि उच्च स्तर की।

आद्यासिद्धि गुरु-लाभ का दूसरा नाम है, एवं द्वितीय सिद्धि शिवत्व का स्वरूप है। इन दोनों को महासिद्धि कहा जा सकता है। सूर्य आदि जिस किसी वस्तु की आत्मा के रूप में दृढ़ भावना कर पाने पर उसके जगत्-प्रकाशनादि कर्म नित्यसिद्ध हैं—यह पहचाना जा सकता है। यही प्रत्यभिज्ञा (recognition) है। जब यह प्रत्यभिज्ञा अत्यन्त दृढ़ होती है, तब अथकारी रूप में प्रतीत होती है, अर्थात् वह कार्य में परिणत होती है। तब योगी सूर्यादिरूप न होकर भी स्वय सूर्यादि वस्तुओं का रूप धारण करता है। विमर्श अथवा ज्ञान दुर्बल हो तो भिन्न-भिन्न रूप से स्थिति होती है। किन्तु यह विमर्शज्ञान प्रबल हो तो भेद व भ्रम का संस्कार नहीं रहता। योगी तब स्वयं विश्वात्मक हो जाता है, इसलिए समस्त सिद्धियाँ नित्यसिद्धिरूप-से प्रकाशित होती हैं। एव ऐसा दृढ़ होने पर केवल भावमात्र नहीं रहता। किन्तु अपने-अपने कार्यसाधन में सामर्थ्य उत्पन्न होती है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि योगी को सभी अवस्थाओं में अपने परिपूर्ण प्रकाशात्मक विश्वरूपी स्वरूप से अविचलित रहना आवश्यक है।

जो देवता जो कार्य करता है, उस कार्य-साधन की आवश्यकता होने पर, योगी स्वय उस देवता का अहङ्कार धारण कर पाये तो, क्षणमात्र में उस कार्य को सम्पन्न कर सकता है।

पृथिवी का लक्षण धारण है, जल का लक्षण संग्रह, तेज का लक्षण पाक, वायु का व्यूह, एव आकाश का लक्षण अप्रतिघात है। योगी पृथिवी आदि जिस भूत को आत्मरूप से अनुसन्धान कर ले, उसी भूत की कर्मसिद्धि घटित होती है। ठीक उसी प्रकार तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, अस्मिता, बुद्धि, अव्यक्त व पुरुष —इनकी स्मृतिशक्ति को धारण कर पाने पर उनके अनुरूप कार्य की सिद्धि होती है। इस प्रकार राग, नियति, काल, विद्या, कला व माया में चित्शक्ति की धारण सम्भव है। दूसरी ओर शुद्धविद्या या सरस्वती, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति व शिव,—इनके ऊपर भी चित्शक्ति की धारण सम्भव है। धारणा के साथ-साथ ही तदनुरूप सिद्धि भी आविर्भूत होती है।

आचार्यगण कहते हैं कि शुकदेव, वामदेव, कृष्ण, दधीचि, वैन्य इत्यादि का जो विश्वात्मक भाव पुराण व इतिहास में प्रसिद्ध है, वह पूर्वोक्त उपाय से आविर्भूत होता है। इसके बाद महासिद्धि की बात स्मरण रखनी होगी। महाशक्ति या पराशक्ति का विषय

स्मरण करना आवश्यक है। यह शक्ति कोटि-कोटि कालाग्नि की दीप्ति लेकर षडध्वा* को दग्ध कर रही है। इनका निरन्तर अनुसन्धान करना आवश्यक है। जब तृप्ति अथवा आप्लावन-रूप सिद्धि का उदय होता है, तब अमृत की लहरी वृष्टि की भाँति समस्त अध्वा (पथ) को प्लावित करती है। इस अनवच्छिन्न सुधा समुद्र की बात भी स्मरण रखनी चाहिए। इस दाह और प्लावन द्वारा 'सकलीकरण' रूप क्रिया की सिद्धि होती है। जितना अध्वा (पथ) पूर्वोक्त प्रणाली द्वारा शोधित होता है अन्त में उतना ही जगत् अनुग्रह का भाजन बनता है। यह जो शुद्धि की बात कही गई यह देहात्मक रूप से संक्षिप्त षडध्वा की शुद्धि नहीं है, किन्तु समग्र विश्व की शुद्धि है। सभी आचार्य विश्वशरीर हैं। किसी निर्दिष्ट देह में देही-रूप से अभिमान रहना आचार्यत्व नहीं है। इस कारण विश्व को अपने शरीर रूप में परिणत करके विश्व का साधन करना आवश्यक है। अतएव प्रकाश के साथ इस देह का अभेद देखने वाले की स्वरूपावस्थिति को ही समस्त अध्वा का दाह समझना चाहिए। यह और कुछ नहीं, विशुद्ध चैतन्यरूपी प्रकाश के साथ तादात्म्य है। पहले जिस आप्लावन की बात कही गई है, वह इस विमर्श का ही दूसरा नाम है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है 'प्रकाशस्य विमर्श घनता प्रत्यभिज्ञानदार्ढ्यात्'—यही परमानन्द आविर्भाव है। इस व्यापार को प्राचीन शाक्तों ने 'सकलीकरण' नाम से वर्णन किया है, यह परम-आनन्द के आविर्भाव

* षडध्वा—आगम की दृष्टि के अनुसार यह विश्व चाहे व्यष्टिरूप में हो चाहे समष्टिरूप में हो, शब्द तथा अर्थ का समन्वित रूप है। स्थूल, सूक्ष्म तथा पर—इत्याकारक भेद वाचक शब्द में हैं तथा वाच्य अर्थ में भी हैं। वर्ण मन्त्र तथा पद—यही वाचक शब्द की धारा है। वर्ण मूल है, वर्ण से उद्भूत है मन्त्र, वह सूक्ष्म है, और मन्त्र से उद्भूत है पद। वर्ण है कारण, मन्त्र सूक्ष्म, पद स्थूल। इसी के अनुरूप वाच्य अध्वा में मूल में है कला, यह कारण रूप है, मध्य में है तत्त्व, यह सूक्ष्मरूप है, अन्त में है भुवन, यह स्थूल है। अतएव तीन वाच्य अध्वा—मिल कर विश्व का स्थूल सूक्ष्म-कारण-विभाग है। जैसे समष्टि में हैं वैसे ही व्यष्टि में भी तीन विभाग हैं।

दीक्षा के समय देहस्थ षडध्वा की शुद्धि आवश्यक होती है। अध्वशुद्धि बिना विश्व का शुद्धरूप कहाँ मिलेगा। दीक्षा के दो अंग हैं—एक—मलिन सत्ता का शोधन, दूसरा—शिवत्व योजन। एक की क्रिया अभावात्मक है, दूसरे की भावात्मक। मलिन सत्त्व शुद्ध हुए बिना उसे शिवभाव के साथ योजित नहीं किया जा सकता। इसीलिए पहले षडध्वात्मक मलिनसत्ता को शुद्ध करना पड़ता है। उसके बाद उसी शुद्धसत्ता को शिवत्व के साथ युक्त करना पड़ता है। इन दोनों क्रियाओं के पूर्ण न होने पर दीक्षा व्यापार अधूरा रह जाता है, अतएव कला शुद्धि आदि षडध्व शोधन के ही अङ्गीभूत है।

का नामान्तर है। वास्तव में प्रकाशरूपी चैतन्य जब विमर्श-शक्ति के प्रभाव से घनीभूत होता है, तब दृढ़ प्रत्यभिज्ञान के उदय-वशत यह आनन्द प्रकट हुआ करता है। इसका ही नाम आधा सिद्धि है। यह गुरु-प्राप्ति का नामान्तर है।

स्मरण रखना होगा कि इस अवस्था में भी पूर्ण ख्याति का उदय नहीं होता। अतः यह भी अपूर्ण ख्याति के अन्तर्गत है। अपूर्ण ख्याति स्थायी नहीं होती। किन्तु जब स्थायित्व का उदय होता है तब इसका दृढ़ भाव से आश्रय लेकर अपूर्ण ख्याति का क्षय करना होता है। प्रतिक्षण अनुसन्धान को दृढ़ करके यह क्षयक्रिया सम्पन्न करनी होती है। योगी इस प्रकार से पूर्ण ख्याति का उन्मीलन करते-करते इच्छानुसार भुवनों की सृष्टि करते रहते हैं एवं रक्षा आदि सभी कृत्यों का सम्पादन करते हैं, अर्थात् योगी तब पञ्चकृत्य करने में समर्थ होते हैं।

पूर्णत्वलाभ व नित्यलीला की आलोचना करनी हो तो तीन दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है। एक महाप्रकाश है, जो स्वय में स्वय ही रहते हुए पञ्चकृत्यमय रूप से सर्वदा नित्यलीलापरायण है। दूसरी ओर चिदाकाश है, वहां आत्मा चितिशक्ति द्वारा अभिनय करता है। अन्य ओर प्रेक्षक रूप से इन्द्रियां विराजती हैं, यहां हमने कर्त्ता, द्रष्टा तथा नाटयगृह का सन्धान पाया। इस लीला का मूल ह्लादिनी शक्ति है। रस का आस्वादन करती भी यही है और कराती भी ये ही हैं।

(३)

गुह्यराज्य में जागरण का क्रम नाना ओर नाना प्रस्थानों में दिखाया गया है। यहां पर सक्षेप में कुछ आलोचना कर रहे हैं।

पूर्ण जागरण का फल ही पूर्णत्वलाभ है। अद्वैत शैवगण जिसका परमशिव नाम से वर्णन करते हैं, यह उसी अवस्था का नामान्तर है। यही परासंवित है, यह एक ही समय में विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक है। स्वरूप सर्वदा ही नित्य-प्राप्त है, शक्ति भी नहीं है जिस ओर विश्व का मान नहीं है उसी दिशा मे शक्ति को एक कला को छोड़ पूर्ण सङ्कोच अवस्था है। एक कला शक्ति विश्वातीत अवस्था में भी रहती है, न रहे तो विश्वातीत अक्षर-स्वरूप जगत् में आत्मप्रकाश न कर पाता किन्तु यह कला रहने पर भी आत्मा को निष्कल कहा जाता है। वह न रहे तो शिव का शिवत्व नहीं रह सकता। यह एक कला ही अमाकला का नामान्तर है। इसका ऋषिगणों ने अमृत-कला के नाम से वर्णन किया है। बाकी पन्द्रह कलाओं का सङ्कोच व प्रसार होता रहता है। विश्वात्मक अवस्था में प्रसार या विकास होता है।

इसका विस्तृत विवरण यहाँ अनावश्यक है। शक्ति या कला चितिशक्ति का ही नामान्तर है, इसका विकास किस प्रकार होता है वह आलोच्य है। शक्ति की तीन अवस्थाओं की बात

स्मरण की जा सकती है। उनमें से एक सुप्तावस्था है, एक क्रमिक जागरण की अवस्था है, एवं एक नित्य पूर्ण जागरण की अवस्था है। पूर्ण जाग्रत का भी क्रम है, उसी प्रकार शक्ति के जागरण से यही समझना होगा कि यह अचित् अवस्था से चिन्मय रूप में उत्थित होती है। शक्ति की जो कृश दशा है, उसमें आचार्य विश्व का आस्वादन नहीं करते। यद्यपि विश्व अभेद सम्बन्ध से उसमें ही है, यह सत्य है, तथापि जो कहा गया, वह भी सत्य है। विश्व उनमें तद्रूप होकर वर्तमान है, किन्तु वे स्वयं ही स्वयं का आस्वादन नहीं कर रहे हैं। तभी तो अणुभाव या सङ्कोच का उदय हुआ है। इसीलिए सुप्त अवस्था एक घेरे की अवस्था है। यह घेरा या आवरण महामाया का स्वरूप है। अणुभाव के साथ साथ वह व्याप्त होता है। इस कारण वह शून्य है, उसी को शास्त्र में तिरोधान कहा गया है। इस कारण अस्फुट विग्रह उसमें भी रहता है। स्फुट-विग्रह अवस्था में कञ्चुक के साथ योग होता है। बाद में कला से प्रकृति का आविर्भाव होता है। इस ओर पुरुष कर्ममलयुक्त हो गया। क्रियाशक्ति व ज्ञानशक्ति का उदय हुआ, चित्त का आविर्भाव हुआ, इसके फलस्वरूप देह प्रकट हुआ। तब पुरुष कर्ता व भोक्ता बना। जगत भी भोग्यरूप में परिणत हुआ। इस प्रकार संकोच की क्रमवृद्धि के फलस्वरूप प्रमेय, प्रमाण व प्रमाता रूप विभक्त दशा का उदय हुआ।

साधारण मनुष्य के स्तर में आने पर देखा जाता है कि यह भेदमय ज्ञान का राज्य है। शाक्तों ने विश्व का विश्लेषण करके इसके कुछ एक अङ्गों को देखा है। इनमें से पहला है ग्राह्य, दूसरा ग्रहण, तीसरा ग्राहक। किन्तु उन्होंने ऐसे एक ग्राहक का सन्धान पाया है, जिसमें ग्राह्य व ग्रहण जनित क्षोभ नहीं है, अथच जो ग्रहण-फल के अधिकारी हैं—यह सत्य है। इस जगत् का प्रथम अंकुर यही है एवं कहा जाए तो यहीं—संवित या अमा अवस्था है। समस्त जगत् इसीके गर्भ में विद्यमान है। ज्ञाता, ज्ञान, व ज्ञेय सब ही इसके अन्तर्गत हैं। सृष्टि के प्रसङ्ग मे पहले ज्ञाता का आविर्भाव होता है, उसके बाद ज्ञान का एवं सबके बाद ज्ञेय का। इन्हें शक्ति की दशायें समझना चाहिए। यहाँ शिव शक्तिमान् रूप से नहीं विद्यमान हैं, किन्तु शक्ति रूप से हैं, इस शक्ति के तीन रूप हैं। तदनुसार एक पराशक्ति है, दूसरी परापराशक्ति और तीसरी अपराशक्ति है। इन तीनों के अलावा मातृसद्भाव नाम की एक सत्ता है। यह चतुर्दल चक्र का रहस्य है।

पूर्णता का तिरोधान होने पर इस दशा का उदय होता है। यह शक्ति दशा नाम से परिचित है। इससे संसार अवस्था का उदय होता है। शक्ति की दशा अविभक्त है। इसमें परा, परापरा व अपरा तीनों शक्तियाँ एक साथ वर्तमान हैं। अभी भी इन सब शक्तियों ने देवी रूप नहीं धारण किया है। यही पूर्वोक्त मातृ-सद्भाव का तात्पर्य है। यहाँ इस

अवस्था में सभी प्रकार की अनुभूति विद्यमान हैं, अथच उनके मूल में क्षोभ नहीं है, हाँ अपूर्णता यहाँ भी है, यह एक अद्भुत सत्य है।

पूर्ण सत्ता से अवतरण का ही नाम है तिरोधान। शाक्त इस परम प्रकाशमय पूर्ण सत्ता का 'भासा' नाम से वर्णन करते हैं, एवं इस शक्तिमय अवस्था की 'अनाख्या' नाम से व्याख्या करते हैं। 'भासा' से 'अनाख्या' में अवतरण ही निग्रह या तिरोधान है एवं अनाख्या से भासा में आरोहण का नाम अनुग्रह है। तिरोधान के फलस्वरूप चतुर्दल कमल का आविर्भाव होता है और उससे क्रमश षोडशदल पर्यन्त विकसित होता है, दूसरी ओर अनुग्रह के फलस्वरूप षोडशदल से चतुर्दल पर्यन्त गति होती है, एव उसके बाद अनाख्या के आश्रयण से 'भासा' में स्थिति होती है।

'भासा' में आत्मा अविभक्त व अविभाज्य अव्यय स्वरूप है। यही पुरुष है। 'अनाख्या' में चतुर्दल प्रकृति में स्थिति है। यह अविभक्त होने पर भी विभाज्य है। प्रमाता के स्थान पर अष्टदल कमल व अहंता रूप का प्रकाश है। यह विभाज्य व सत्त्वप्रधान है। प्रमाण-भूमि में द्वादश-दल कमल है। यह मन, बुद्धि व दस इन्द्रियों का प्रवृत्ति क्षेत्र है। यह रज प्रधान है। प्रमेय भूमि में षोडशदल कमल है, यह तन्मात्रा व भूत का क्षेत्र है, यह तम-प्रधान है।

अनुग्रह-शक्ति के प्रभाव से क्रमश प्रमेय से प्रमाण, प्रमाण से प्रमाता, प्रमाता से 'अनाख्या' एव अनाख्या' से पूर्ण या भासा' में प्रवेश होता है।

पूर्ण व भासा में समग्र विश्व अभेद में विद्यमान रहता है। तिरोधान के समय वह पृथक् रूप से स्फुरित होता है। इसीका दूसरा नाम प्रकृति अथवा 'शक्ति-चक्र' है। यही, एक प्रकार से, पुरुष से प्रकृति का अथवा ब्रह्म से माया का आविर्भाव कहा जा सकता है। तिरोधान शब्द का अर्थ आत्म-सङ्कोच अथवा कालचक्र का आविर्भाव है। इसके मध्य प्रतिपद से अमावस्या पर्यन्त कृष्णपक्ष है। अमावस्या पूर्ण सङ्कोच की प्रतीक है। इस अवस्था में सब चित्कलाओं का सम्पूर्ण आकुञ्चन घटित होता है—केवल एक कला अवशिष्ट रहती है, इसीका नाम 'अमा' है।

यहाँ एक बात विवेचनीय प्रतीत होती है। पूर्ण से जो अनाख्या का आविर्भाव होता है, उसकी प्रणाली विवर्त है, अनाख्या से त्रिपुटी के आविर्भाव की प्रणाली परिणाम है। इसके बाद आरम्भ क्रिया का अवसर आता है। जागरण से ही अनुग्रह का उदय होता है। इसके बाद शाक्त स्रोत का वर्षण होता है। यह प्रक्रिया 'अनाख्या' तक चलती है। इसके बाद अनाख्या से पूर्ण अथवा 'भासा' में प्रवेश परम अनुग्रह का स्वरूप है। जैसे आरम्भवाद

अवरोह अवस्था में घटित होता है, वैसे ही आणव व्यापार को आरोह के बाद समझना होगा। आरोह क्रम में पहले रहती है अपनी चेष्टा। इसका नाम 'आणव उपाय' है, इसके बाद, शाक्त स्रोत में बहा ले जाना है। लक्ष्य है शक्ति अथवा 'अनाख्या'। 'अनाख्या' में जाकर प्रतीक्षा करनी होती है। क्योंकि स्वय ही पूर्ण में या 'भासा' में नहीं जाया जा सकता। तब पूर्ण खींच लेते हैं, उसके फलस्वरूप पूर्णत्वलाभ होता है। 'अनाख्या से 'भासा' में जाना तभी समव होता है जब आत्मा स्वय ही स्वय को पकड़ा दे। 'अनाख्या' पर्यन्त जाया जाता है अनुग्रह के फल से, ऊर्ध्व स्रोत के बहाव में। किन्तु ऊर्ध्व स्रोत में भी अन्त तक नहीं जाया जाता। उस तुङ्ग शिखर पर जाकर बैठ रहना होता है, तब वे खींच लेते हैं।

महाशक्ति मा साथ-साथ खींच ले जाती हैं, एवं इस उपलक्ष्य में आत्मा का रूपान्तर करवाती हैं। वे शिखर पर्यन्त पहुचा देती हैं। यह विश्व का ऊर्ध्वतम स्थान है। अवश्य ही यह विषयी विश्व है। इसके बाद पूर्ण की महाकृपा से विश्वातीत अवस्था की प्राप्ति होती है, अर्थात् पूर्णत्व लाभ होता है।

अतएव अनुग्रह की धारा शुक्लपक्ष हुई। पूर्णिमा है पञ्चदशी। आरोह क्रम में वही 'अनाख्या' है। अवरोह के समय शिव शक्तिरूप थे, आरोह के समय शक्ति शिवरूप होती हैं। यहीं पर शक्ति शिवरूप धारण करती हैं। इस कारण शक्तियुक्त शिव का प्रकाश यही युगलपद्म है। इसीलिए पञ्चदशी-युक्त है। इसके बाद षोडशी अर्थात् 'अमा' है, यह युक्त (जुड़ी हुई) नहीं, अकेली है। इसके बाद की अवस्था है परा।

'अनाख्या' के बाद 'भासा' है। इसके बीच अनन्त व्यवधान है। तिरोभाव के कारण इस व्यवधान की सृष्टि हुई है। पुन अनुग्रह का उदय होने पर यह व्यवधान कट जायेगा। तिरोभाव के फलस्वरूप कालराज्य में प्रवेश होता है, सुतरां यह अन्तराल यमुना, अथवा कालनदी या विरजा है। वैष्णवीय परिभाषा में कहने जायें तो पूर्ण है, नित्य वृन्दावन या नित्य लीलाभूमि, यमुना अथवा कालनदी के पार होना हो पार जाता है, नाविक केवल एक है, वही पूर्ण है।

आत्मा के जागरण का एक क्रम है। अभी आत्मा माया के आवरण से आच्छन्न हो कर सोया हुआ है। इस कारण उसे आत्म-विमर्श नहीं है, इसीके प्रभाव से पिण्डमात्र में उसकी अहन्ता रक्षित होती है। इसीका नाम देहाभिमान है। वह सर्वत्र विद्यमान है, एवं इसीलिए वह विश्व-शरीर के रूप में स्वयं को नहीं समझ पाता, सुतरां उसका जागरण भी नहीं हो सकता।

प्रकृत प्रस्ताव में विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्यस्वरूप है, एवं अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य है, जिसको हम लोग ग्राहक कहते हैं। विशुद्ध आत्मा ही वस्तुतः परम शिव है, समग्र विश्व उसी का शरीर है। अनाश्रित शिव से आरम्भ करके पृथिवी-तत्त्व पर्यन्त सब ही उसका शरीर है। अनवच्छिन्न चैतन्य व ग्राहक चैतन्य एक प्रकार का नहीं है। शुद्ध चैतन्य रूपी आत्मा किसी निर्दिष्ट रूप में विशिष्ट ग्राह्य के प्रति उन्मुख नहीं होता। जो इस प्रकार से उन्मुख होता है उसी का नाम है ग्राहक। वह अनवच्छिन्न चैतन्य है। इस ग्राह्य द्वारा ही उसका चैतन्य या प्रकाश अवच्छिन्न होता है। अनवच्छिन्न चैतन्य का भान कैसे होगा? निर्दिष्ट विशेष रूप में भान उसका नहीं होता। परन्तु सामान्य सत्ता में भान होता है। इस सामान्य का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। सर्वत्र अनुगत एक अखण्ड सत्ता का अनुसन्धान ही उसका स्वभाव है। कोई भी आत्मा अपने ग्राहकत्व के कारण नियत दर्शनादि से मुक्त हो सके तो चैतन्य रूप में स्वयं को प्रकाशित करता है। समस्त विश्व तब उसके शरीर रूप से गिना जाता है।

शुद्ध आत्मा विभिन्न स्तरों में विद्यमान है। किसी आत्मा को अस्मिता विषय लेकर खेल करता है, किसी की देह को आश्रय बना कर, अन्य किसी की इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण अथवा शून्य को आश्रय बना कर कार्य करती है। शून्य ही सुषुप्ति रूपी माया है। 'अहं' अभिमान देह में ही होगा अथवा दृश्य में ही होगा ऐसी कोई बात नहीं है। देह से बाह्य विषय में अस्मिता होती है, और अदृश्य में भी 'अहं'-अभिमान हो सकता है। 'अहं'-अभिमान व माया—असली बात यही है। यह अहं अभिमान चिति अथवा संवित् का ही होता है, ग्राहक का नहीं। वह किसी किसी पद मे धारण किया जाता है। यदि वह 'षडध्वा' में ही धारण किया जाय तो शिव से लेकर पृथिवी तक सभी वस्तुओं का नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञा द्वारा अनुसन्धान किया जाता है। तब साधारण आत्मा भी स्वयं के विश्वरूप से जान सकता है।

और एक बात है। जिसमें चिति का दृढ़ अभिनिवेश अथवा अस्मिता रहती है, उसमें इच्छा होते ही क्रिया का उत्पादन किया जा सकता है। अस्मिता अहं आकारक अभिनिवेश मात्र है। एकमात्र शिव की अस्मिता विश्व में विद्यमान रहती है, क्योंकि शिव ग्राहक नहीं, अर्थात् अवच्छिन्न प्रकाश नहीं हैं।

यह जो अहन्ता है, यह बिन्दु से शरीर पर्यन्त घेरे हुए है। बिन्दु है स्वरसवाहिनी सामान्यभूता सूक्ष्म अहंप्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण व ग्राह्य आदि प्रतीति विशेष की पूर्ववर्ती है। प्राण उस सत्ता या अणु का नाम है जो अभिमान, अध्यवसाय आदि अन्तःकरण का क्षोभक है।

शक्ति है बुद्धि, अहङ्कार, मन, इन्द्रिय व शरीर रूप में प्रसिद्ध। बिन्दु से शरीर पर्यन्त छहों को आवेष्टन करके जो अहंता इन्हें कम्पित करती है, उसी की धारणा होनी चाहिये। भावना द्वारा इस अहन्ता का विकास होता है। इसी का नाम कर्तृत्व, ईश्वरत्व, स्वातन्त्र्य, चित्स्वरूपता इत्यादि है। सिद्धिमात्र ही अहन्तामय है, इस कारण दृढ़ प्रत्यय होना आवश्यक है।

(४)

सुप्त प्रमाता की प्रतीति किस प्रकार की है? यह माया द्वारा मोहित है। ग्राहक चिदात्मक एवं ग्राह्य अचिदात्मक भी उससे भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। यद्यपि समग्र विश्व भुवनावली पूर्ण या प्रकाश के भीतर स्थित है, तथापि सुप्त आत्मा समझता है कि यह उससे बाह्य है। ये आत्मा 'भवी' नाम से वर्णित होते हैं।

जाग्रत कल्प प्रमाता की प्रतीति किस प्रकार की है? इसका दूसरा नाम है 'भवपदी'। शुद्ध विद्यारूपी प्रमाता एवं सम्प्रज्ञात समाधि-प्राप्त प्रमाता इसी के अन्तर्गत हैं। ये ठीक सुप्त नहीं, अथच ठीक जाग्रत् भी नहीं। सुप्त नहीं, क्योंकि इनका भव या संसार नहीं है क्योंकि इनमें भेदज्ञान नहीं है, अर्थात अभिन्नवस्तु में भिन्न जैसी प्रतीति नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी इनकी अवस्था उद्भव है। अवश्य ही भव अर्थात भेदज्ञान न रहने पर भी उसका संस्कार इनके चित्त में विद्यमान है, क्योंकि अन्तःसङ्कल्प आदि आकारों में भिन्नवत् प्रतीति शुद्ध विद्या के प्रभाव से अथवा सम्प्रज्ञात समाधि के फलस्वरूप हो सकती है। इस अवस्था में अविवेक रहता है। इसके पश्चात् विवेकख्याति का उदय होता है और बाद में शुद्ध सत्ता का आविर्भाव होता है। यह अवस्था ठीक स्वप्न की भाँति है। सुषुप्ति तो नहीं है, पर ठीक ठीक जागरण भी नहीं है। ठीक ठीक जागरण होने पर भेद का संस्कार रहना संभव नहीं होता। ये सब आत्मा, इनके धर्म अधर्म का क्षय हो जाने के कारण, किसी किसी दृष्टि के अनुसार मुक्तपुरुष रूप से परिगणित होने पर भी ये प्रकृत मुक्तपुरुष नहीं हैं। तन्त्रशास्त्र में इनका रुद्राणु रूप से वर्णन किया जाता है। वास्तव में ये भी पशु हैं। कर्णसंस्कार से रहित होने पर भी संवित् श्रवण में इनका अधिकार नहीं है।

इसके बाद जाग्रत अथवा प्रबुद्ध प्रमाता की अनुभूति की बात कहते हैं। इन सब आत्माओं में भेद एवं अभेद का संस्कार विद्यमान रहता है। ये आत्मा जड़ वस्तु को 'इदं' रूप से अनुभव करते हैं एवं दूसरी ओर 'अहं' वस्तु की प्रतीति भी 'अहं' रूप से रहती है। सामानाधिकरण्य-वशतः अभेद का आरोप होता है इसलिये भेदांश ढँका रह जाता है एवं

'इदं-अहं' रूप अनुभव का उदय होता है। इनके अनुभव में समग्र विश्व अपने शरीर-रूप में प्रतीयमान होता है। इस अवस्था में दो अनुभव युगपत् विद्यमान रहते हैं। इसी को ईश्वर अवस्था कहते हैं।

अब सुप्रबुद्ध-कल्प व सुप्रबुद्ध प्रमाता का अनुभव कहते हैं। इस अवस्था में इदं प्रतीति का विषयीभूत जो ज्ञेय पदार्थ है वह अहं-रूपी स्वरूप में निमग्न होकर प्रकाशित होता है। यह निमेष रूप से वर्णित होने योग्य है। ये सब आत्मा अभेद ज्ञान अथवा कैवल्य-प्राप्तिवशतः उद्भवी रूप से वर्णित होते हैं। ये अहं रूप स्वरूप में मग्न रहते हैं। यह अवस्था अहं भाव के द्वारा आच्छादित अस्फुट इदंभाव की दशा है, इसका सदाशिव अवस्था नाम से ग्रहण किया भी जा सकता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि यह भी आत्मा की पूर्णस्थिति नहीं है। इसके पश्चात पूर्णस्थिति का उदय होता है, किन्तु वह अस्थायी है। इस अवस्था में 'निमेष व उन्मेष' दोनों रहते हैं। समुद्र में तरङ्ग आदि में जैसे निमेष व उन्मेष दोनों रहते हैं, यह भी कुछ कुछ वैसा ही है। प्रकाश सर्वदा ही रहता है, हाँ शिवादि विश्व का भान कभी रहता है, कभी नहीं रहता। जब भान रहता है, तब प्रकाशात्मक रूप से ही उसका उन्मेष होता है।

इसके पश्चात प्रकृत पूर्णत्व का आविर्भाव होता है। यही स्थायी अवस्था है। पहले जिस पूर्णत्व की अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें प्रकाश व निमेष का सम्बन्ध था। किन्तु अब वह नहीं है, इसका कारण यह है कि पहले मन था इसलिए निमेष व उन्मेष घटित होता था। यहाँ की अवस्था ठीक उन्मना है। उन्मना होने से पूर्णात्मा की सिद्धि अचल है। इसका ही नाम सिद्ध सुप्रबुद्ध अवस्था है। इस प्रकार योगी की इच्छा मात्र से अभिमत विभूति का आविर्भाव होता है, यही आत्मा के पूर्ण जागरण की अवस्था है।

(५)

अब विभूति अथवा सिद्धि के विज्ञान के विषय में कुछ कहेंगे। सिद्धि नाना प्रकार की हो सकती है। कोई-कोई सिद्धि अर्थमूलक होती है। ये सब निम्न स्तर की सिद्धियाँ या अपरा सिद्धि हैं। कोई कोई सिद्धि तत्त्वमूलक होती है। ये उच्च स्तर की सिद्धि या परासिद्धि हैं। प्रत्येक अर्थ का एक-एक कर्म है। इसको सृष्टि क्रिया (casmik function) कहा जा सकता है। नित्यसिद्ध योगी जब जिस अर्थ में आत्मभावना करते हैं, तब उस अर्थ-रूप में स्वयं ही अवस्थित होते हैं, एवं साथ-साथ उस कर्म का निर्वाह घटित होता है। सूर्य, चन्द्र,

विद्युत्, मेघ, वज्र, समुद्र, पर्वत इत्यादि प्रत्येक का जो अर्थक्रियाकारित्व है, योगी उसे इसी क्षण प्राप्त कर सकता है। जो देवता जिस अर्थ या प्रयोजन को सम्पन्न करता है, इच्छा होने पर उस देवता में अहं अभिमान धारण किया जा सके तो वह अर्थ क्षण भर में स्वयं ही स्फुट हो जाता है। इस प्रकार पृथिवी से शिवत्व पर्यन्त अहंभाव में अभिनिवेश से योगी को वे-वे सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। माया-पर्यन्त जिस-जिस सिद्धि का उदय होता है, उसका नाम गुह्यान्त सिद्धि है। ये अपरा अर्थात निम्नस्तर की सिद्धि हैं। सरस्वती या शुद्धविद्या आदि परासिद्धि हैं। ये उच्च स्तर की सिद्धि हैं। इसके पश्चात सर्वसिद्धि के ऊपर दो महासिद्धि वर्तमान हैं।

प्रथम महासिद्धि है सकलीकरण। कालाग्नि जैसी ज्वाला द्वारा ६ अध्व रूपी पाश दग्ध होते हैं। इसके पश्चात् अमृत द्वारा आप्लावन होता है। तब इष्टदेवता का दर्शन होता है। इस अवस्था में शोधित समग्र अध्वा का अर्थात् समस्त विश्व का गुरु पद पर वरण होता है। वे जगद्गुरु हैं, वे समस्त विश्व के अनुग्राहक हैं। किन्तु यह भी अपूर्ण ख्याति है। इसके पश्चात् जो द्वितीय महासिद्धि है, वही पूर्ण ख्याति अर्थात परम शिवत्व लाभ है। इस अवस्था में इनमें अपनी इच्छानुसार भुवनादि की सृष्टि का अधिकार उत्पन्न होता है। परमशिव की पञ्चकृत्यकारिता सर्वदा ही विद्यमान रहती है। स्मरण रखना होगा कि मुक्त शिव मात्र परम शिव के साथ अभिन्न होने से पञ्चकृत्य सम्पादन का अधिकारी है। किन्तु अधिकारी होने पर भी वे इस कृत्य का सम्पादन करते नहीं।

यहाँ एक रहस्य की ओर सङ्केतमात्र करेंगे सिद्ध अवस्था में ऐसी भी एक स्थिति है, जब योगी इच्छाशक्ति की उपेक्षा करके भक्ति की ओर उन्मुख होते हैं। जब तक इच्छाशक्ति इच्छा रूप में वर्तमान रहती है, तब तक लक्ष्य रहता है बाहर की ओर। किन्तु अन्तर्मुख होते ही इच्छा भक्ति रूप में परिणत हो जाती है, तब योगी भक्त कुछ भी नहीं चाहते। एकमात्र उसी को चाहते हैं। किसी प्रयोजन की सिद्धि में उनका उद्देश्य नहीं रहता, तब भी उसे चाहे बिना रह नहीं सकते। शङ्कराचार्य ने कहा है—'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवैवाहं' इत्यादि। यह वही अवस्था है। इस को ही श्रीमद्भगवद्गीता में 'ज्ञानीभक्त' कहा गया है। ये ही श्रेष्ठ भक्त हैं, क्योंकि ये नित्यमुक्त हैं एवं एक के ही भक्त हैं।

मूल बंगला से अनूदित

अनुवादिका—कुमारी ऊर्मिला शर्मा

कालिदास की कृतियों में भारतीय आदिम जातियों के उल्लेख

कैलासनाथ द्विवेदी

महाकवि कालिदास का काव्य ऐसा मनमोहक मुकुर है, जिसमें भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता अपने मौलिक रूप में प्रतिबिम्बित होकर युग-युगान्तर के लिए प्राणवती हो गई है । उन्होंने अपनी कृतियों में केवल उच्चवंशीय हिन्दू आर्य जाति की आदर्श वर्ण व्यवस्था, रहन-सहन, खान-पान, कलाकौशल आदि का ही चित्रण नहीं किया, अपितु सुसभ्यजनों की दृष्टि में उपेक्षितप्राय, अनार्य समझी जाने वाली पिछड़ी भारतीय आदिम (जन) जातियों का भी उल्लेख प्रसंगानुसार किया है । यद्यपि भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के उषकाल से ही ये आदिम जातियां इस राष्ट्र की क्रोड़ में अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों को निधि रूप में सजोये विद्यमान रही हैं तथापि किसी न किसी रूप में सभ्यता के सम्बर्द्धन तथा सुन्दर स्वरूप देने में इनका महान् सहयोग रहा है । महाकवि ने इस लक्ष्य का सत्य मूल्यांकन कर तत्कालीन भारत में इनके अवशेष रूप का उल्लेख अपनी कृतियों में दिया है ।

इन प्राचीन जन (आदिम) जातियों में प्रमुख हैं—किरात, किन्नर (उत्सव संकेत), यक्ष, गन्धर्व, विद्याधर, नाग पुलिन्द, वनेचर (वनचर) निषाद् आदि जिनके स्वरूप, रहन सहन, कबीलों तथा तत्सम्बधित प्रदेशों का प्रत्यभिज्ञान यहां प्रस्तुत किया जा रहा है ।

किरात—प्राचीन साहित्य[1] में किरात जाति का पर्याप्त उल्लेख हुआ है । महाभारत में पाण्डवों की यात्रा किरात राज्य में हुई थी, जिसका प्रतिनिधि सुबाहु था (वन० १४०।२५-२६) राजसूय यज्ञ में किरातों ने युधिष्ठिर को उपायन में चमड़े, चन्दन, अगरु, सोना आदि द्रव्य भेंट किये थे (सभा० ४८।८) मनु के अनुसार[2] किरातों का पहिले तो अस्तित्व क्षत्रियों जैसा था, किन्तु बाद में क्रियालोपवश ये शूद्रों जैसे हो गये थे । कवि ने अपनी कृतियों[3] में किरातों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार यह जाति प्रधानत हिमालय-प्रदेश में रहा करती थी (रघु० ४।७६, कु० १।६, १५), जिसका प्रधान धन्धा शिकार-खेलना तो था ही, किन्तु,

---

१ महा० वन० १४० । २५-२६, सभा० ४८।८, स्कन्द पु० के दार० १८१।४०-४५ विष्णु पु०, २।३।८ ।

२. मनुस्मृति—१०।४३, ४४ ।

३. रघु० ४।७६, १६।५७, कुमार० १।६, १५ ।

इसके साथ इससे प्राप्त मूल्यवान् पदार्थ (गजचर्म, गज दाँत, मुक्ता आदि) प्राप्त कर व्यापारियों को बेंच देते या राजाओं को भेंट में समर्पित करते थे। कवि के अनुसार इनकी स्त्रियाँ राजपरिवार में चँवर डुलाने का कार्य किया करती थीं (रघु० १६।५७) संभवत चंवर भी इनके द्वारा प्राप्त चंवरी मृग की पूँछ के बालों से बनते थे।

फूशे के उल्लेखानुसार[४] यह ज्ञान होता है कि किरातों का अस्तित्व, वैदिक युग में आर्यों के कबीले भारत में अग्रसर होने के समय, यहां था, क्योंकि उसके अनुसार आर्यों के बढ़ते समूह में सार्थवाहों की रक्षा करते हुए आगे योद्धा चलते थे कि हजार जाति में रहने वाले किरात उन पर हमला न कर दे। सत्यव्रत सिद्धान्तालकार ने[५] सर हर्बर्ट रिसले, ए० सी० हेडल, डा० गुहा आदि नृतत्व शास्त्रियों के मत को उद्धृत करते हुए इन्हें 'मगोलायड, वग में स्वीकार किया है, जिसके अनुसार इनका प्रदेश हिमालय के नेपाल असम और वर्मा हैं। इसी प्रदेश के निवासी भारतीय साहित्य के किरात हैं, जिनका सामान्यत रग गोरा (भुरा) सिर चौड़ा, छोटी-चौड़ी नाक, कद नाटे, चेहरा चपटा, आखे (तहोंदार) ढकी-सी और कम बाल युक्त सिर होता है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी भी इसे मगोल जाति से भिन्न नहीं मानते जो वर्मा, असम, नेपाल तथा कश्मीर के सीमान्त प्रदेशों में बसी हुई हैं।[६] पेरीप्लस के अनुसार किरात गगा के मुहाने के उत्तर के वासी थे (स्काफ द्वारा अनु० पृ० ४७, ६२), जबकि टाल्मी बगाल की खाडी (त्रिपुरा के आसपास बताता है। डा० मोती चन्द्र[७] इन्हें तिब्बती-वर्मी जाति से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं जो खाल पहनते और कन्दमूल पर गुजारा करते हिमालय के ढाल, गारोसाल या ब्रह्मपुत्र घाटियों में घूमा करते थे।

डा० मजुमदार[८] के अनुसार किरात भारत की प्राचीनतम हिस्र जाति है, जो 'तिब्बती-वर्मी वर्ग से सम्बन्धित हैं, जिसका निवास प्रदेश हिमालय गगा का उद्गम क्षेत्र, नेपाल के विस्तृत भूभाग से भिन्न नहीं है, डा० भगवतशरण उपाध्याय[९] भी इन्हें 'तिब्बत वर्मी वर्ग' के अन्तर्गत लेकर तिब्बत लद्दाख, जस्कर और स्पत्रु प्रदेश के निवासी मानते हैं।

---

४. ल वैयुय खत द ला एद, भाग २, पृ० १८४-१८५।
५. भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं, देहरादून, १९६०, पृ० ४६, ४९।
६. हिन्दू सभ्यता-डा० मुकर्जी, पृ० ७१।
७. सार्थवाह, पटना, १९५३, पृ० १००।
८. एन्सीएन्ट इन्डिया, मजूमदार पृ० ३७३।
९. कालिदास का भारत, काशी, १९६३, पृ० १०८।

समीक्षा—वस्तुत महाकवि कालिदास के अनुसार किरात हिमालय (गंगा के उद्गम क्षेत्र की) शृंखलाओं से पृथक प्रतीत नहीं होते हैं। यद्यपि (कु० १।१५) मृगया को ढूंढने उसके उच्चवर्ती प्रदेशों में भी पहुंच जाते होंगे, किन्तु ऐसे हिमाच्छादित भाग पर मानव-निवास दुष्कर है। अत निचले हिमालय के भाग, उसकी तराई तक का प्रदेश किरात भूमि से सम्बन्धित किया जा सकता है। डा० वासुदेवशरण[१०] अग्रवाल ने यही कारण है, हिमालय की तराई (जिसमें नेपाल-भूटान भी सम्मिलित हैं) को उनका प्रदेश माना है। प्रधानतया नेपाल की वर्तमान लिम्बू, याखा, चेपङ्ग आदि जातियाँ किरात जाति से सम्बन्धित की जा सकती हैं। डा० लोधम ने।[११] पुराणों के राज-किरात लोगों को चेपङ्ग जाति के समकक्ष माना है हिमालय-यात्राओं में भाषा-सम्बन्धी सूक्ष्म गवेषणा के आधार पर राहुल सांकृत्यायन ने[१२] गगा के पनढर के पूर्वी छोर से सारे नेपाल (कोसी के पूर्व) की राई, लिम्बू, याखा जाति को किरात से अभिन्न बताया है। तथ्यत इस जाति को तिब्बती वर्मी कहने की अपेक्षा तिब्बती हिमालय कहना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि इसका अस्तित्व लद्दाख से आसाम तक किसी न किसी जाति के रूप में विद्यमान है। इनकी संख्या लगभग १ लाख से अधिक नहीं है, क्योंकि डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपने भाषा सम्बन्धी सर्वेक्षण में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर[१३] किरान्ती या किरन्ती भाषा-भाषी लोगों की संख्या ८८००० निर्दिष्ट की है। कवि के अनुसार (कु० १।१५) ये लोग अर्ध-नग्न धनुष बाण लिए सिर या कमर में मोर पंख लगाये घूमा करते थे शिकार के धंधे में। अब ये स्थायी जीवन खेती आदि करके व्यतीत करने लगे हैं, किन्तु फिर भी अपनी प्राचीन प्रवृत्तियों का परित्याग नहीं कर सके हैं।

किन्नर—महाभारत (सभा०, २९।१-५) में इनका उल्लेख हुआ है। अर्जुन उत्तर दिग्विजय करते किम्पुरुषवर्ष पहुंचे थे, जो मुख्यत किन्नरों की निवास-भूमि माना जाता है। यह प्रदेश नेपाल-हिमालय से भिन्न नहीं हो सकता, किन्तु संकुचित रूप में बाद में कैलास-मानसरोवर के पश्चिम का ही क्षेत्र किन्नर-प्रदेश कहा जाने लगा। कवि ने किन्नरों का

---

१०. भारत-सावित्री, दिल्ली, १९५७, पृ० १३५।

११. हिमालय गजेटियर, वाल्यूम २, पृ० ३६।

१२. हिमालय-परिचय, इलाहाबाद, १९५३, पृ० ४२।

१३. आदिवासियों की भाषाएं—लेख आदिवासी, प्रकाशन-विभाग, सूचना-प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, दिल्ली, १९५९, पृ० ६९।

उल्लेख अपनी कृतियों१४ में किया है, जिससे ज्ञात होता है किन्नर की निवास-भूमि हिमालय पर्वत पर कैलास मानसरोवर क्षेत्र के समीप थी तथा ये 'उत्सव-संकेत' पर्वतीय जाति के अभिन्न प्रतीत होते हैं।

एटकिन्सन के मतानुसार१५ वर्तमान किन्नर भूमि हिमालय प्रदेश के कुनाउर (कनौर) बुशहर, कुलु प्रदेश से भिन्न नहीं हें। दूसरे रूप में इसे कुमायूं के पश्चिम की ओर वर्तमान खस, कुनेत आदि जातियों से भी सम्बन्धित माना जा सकता है। (हिमालया गज० वो० १, पृ० २९५)।

प्रो० जयचन्द्र विद्यालकार१६ इस जाति के प्रदेश को सतलज की ऊपरी घाटी चन्द्रभागा के उद्गम क्षेत्र की जो आधुनिक कनौर से भिन्न नहीं है, उनकी मूलनिवास भूमि स्वीकार करते हैं।

राहुल ने१७ अपनी यात्राओं से भाषाशास्त्रीय दृष्टि के आधार पर कनौर को ही किन्नरदेश सिद्ध किया है, जो तिब्बत (भोट) की सीमा पर सतलज की ऊपरी घाटी में ७० मील लम्बा और प्राय उतना ही चौड़ा क्षेत्र है, जिसके अन्तर्गत (३८०० वर्ग मील क्षेत्र में) रामपुर बुशहर रियासत थी। यहां की किन्नरी (कनौरी) भाषा ही प्रचलित है जिसका सर्वाधिक प्रचलित रूप 'हमू स्कद' है।

समीक्षा:—वस्तुत यह किन्नरी (कानावरी कनौरी) भाषा सतलज की ऊपरी घाटी शिमला के उत्तर पूर्व, टिहरी के उत्तरी क्षेत्र में बोली जाती है१८। अत इसी प्रदेश को किन्नर प्रदेश मानना उचित है। वैसे हिमालय की आदिम जाति के रूप में इन्हें ग्रहण किया जाता है, किन्तु अब केवल सतलज की ऊपरी घाटी कनौर (रामपुर बुशहर के आस पास के) क्षेत्र में ये विद्यमान हैं। "कनौरी" बोली के आधार पर चाटुर्ज्या ने इनकी संख्या

१४ कुमार० १।११, १४, ३।३१।१३८, ५।५६, ६।३९, रघु० ४।७८ अभि० शा० अंक ७।

१५. हिमालया गज० वो० २, पृ० २९६।

१६ प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्सन्स आफ दी सिक्स्थ आल इंडिया ओरि० का०, पटना १९३० पृ० ११२।

१७. किन्नर देश में राहुल सांकृत्यायन प्रयाग, १, १६, तथा ३४७।

१८. इम्पीरियल गेजटियर आफ इण्डिया (एटलस) वो० २५, (गवर्न० आफ इण्डिया) १९३१, नं० १४।

२६००० निर्दिष्ट की है। ये१९ लोग नृत्य-गान मेले-तमाशों के शौकीन होते हैं। महाकवि ने 'उत्सव संकेत' जिन पर्वतीय गणों का उल्लेख (रघु ४।७८) किन्नरों के साथ किया है, वे किन्नरों से भिन्न नहीं जान पड़ते, क्योंकि उत्सवसंकेत इन्हीं किन्हीं किन्नरों का ढीले सामाजिक नियमों के वैवाहिक स्वरूप का संकेत व्यक्त करता है।

पार्जीटर२० ने भी उत्सव का अर्थ प्रणय और संकेत को उसकी सिद्धि की चेष्टा (Gesture) या निमंत्रण अर्थ ग्रहण किया है। जिन्हें डा० अग्रवाल ने वर्तमान कनौर क्षेत्र से ही सम्बन्धित माना है (भारत सावित्री, दिल्ली, १९५७, पृ० १३६) अत किन्नर भी उसी क्षेत्र के मूल निवासी माने जा सकते हैं। अब ये कृषि, उद्यान, फलों का व्यापार पशु (भेड़ बकरी) पालन करते हैं। अंगरी मदिरा पीकर देवी या देवता के सामाने मस्त हो नाचते हैं।

गन्धर्व—प्राचीन साहित्य२१ में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। महाकवि ने अभिज्ञान शाकुन्तलम् प्रथम अंक (शतक्रतुना गन्धर्व सेनाममाविष्टा) तथा रघु० ५।५३-६० में गज रूप प्रियम्वद गन्धर्व का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार ज्ञात होता है कि इस गन्धर्व का निवास चैत्ररथ प्रदेश था (एको यथो चैत्ररथप्रदेशान) जिसका नाम चित्ररथ गन्धर्वराज के नाम पर पड़ा है। यह हिमालय की प्रधान शृंखला से ही सम्बन्धित प्रतीत होता है क्योंकि इसकी पौराणिक स्थिति सुमेरु पर्वत से पूर्व में तथा गन्धमादन (जो सुमेरु के द० और कैलास के द० पश्चिम में स्थित है) के उ० पू० में निर्दिष्ट की गई है। अत गन्धर्व-प्रदेश हिमालय की बद्रीनाथ श्रेणी से लेकर कैलास मानसरोवर तक के क्षेत्र तक विस्तृत प्रतीत होता है, जो यक्षों के प्रदेश (कैलास-मानस) से घनिष्ठ सम्बन्धित होना चाहिये।

गन्धर्व जाति यक्ष किन्नरों की भांति मूलत हिमालय की आदिम जाति है। पुराणों में इसे गान विद्या-प्रिय अर्द्धदेव माना गया है, किन्तु, देव (आर्य) जाति भी यहीं की सोम-पान करने वाली एक मूल जाति थी। डा० रांगेय राघव के अनुसार यह२२ गन्धर्व जाति यहां की मूल आदिम निवासी थी, जो बाद में आर्यों से घुल-मिल गई थी तथा देव जाति इन्हीं गन्धर्वों से साम क्रय करते थे (पृ० ६७) उनके अनुसार द्रविड़-युग में भी भारत के उत्तर-प्रदेश में अनेक जातियों में यक्ष गन्धर्व, किन्नर आदि भी थीं (भूमिका, पृ०ङ)।

---

१९ आदिवासी, १९५६, भारत सरकार दिल्ली, पृ० ६९।

२० मार्कण्डेय पुराण, अनुवाद, पृ० ३१६।

२१ वाल्मी० रामा० उत्तर० ११३।१०-११ महाभारत उपायन पर्व ४८।२३।

२२ प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, डा० रांगेय राघव, भूमिका, पृ० (ख)।

भ्रमवश कतिपय विद्वानों ने गान्धार (कन्दहार , वर्तमान अफगानिस्तान) प्रदेश को ही गन्धर्व-प्रदेश मानकर इसे सिन्धु नदी के दोनों तट पर विस्तृत स्वीकार किया है, जिनमें सुरेन्द्रनाथ शास्त्री कनिघम आदि प्रमुख हैं, जिन्होंने रामायण (उत्तर० ११३ १०-११) के आधार पर गन्धर्वों के देश को सिन्धु के दोनों तटों पर माना है। किन्तु मुख्यत गन्धर्व प्रदेश हिमालय के कैलास-मानस क्षेत्र से दूर नहीं माना जा सकता ।

यक्ष—महाकवि ने यक्षों की प्रधान (राजनगरी) अलका कैलास से अभिन्न स्वीकार की है।२३ हिमालय की राजधानी औषधिप्रस्थ में भी यक्षों का उल्लेख किया है।२४ सामान्यतया इस जाति का प्रदेश कलास-मानस क्षेत्र के आस-पास विस्तृत प्रतीत होता है। इन यक्षों का राक्षसों से भी रक्त सम्बन्ध था। यक्ष और रक्ष दोनों शब्दों का धातु मूल एक ही प्रतीत होता है। ये दोनों आदिम जातियां इधर-उधर घूमने-फिरने वाली हिंसक प्रकृति की थीं किन्तु बाद में यक्ष प्रधानतया पर्वतीय जाति के रूप में ग्रहण की जाती है, जिसका मूलत हिमालय की प्रधान श्रेणी तथा उसके उत्तर कैलास पर्वत क्षेत्र से ही सम्बन्ध स्थापित करना उचित है ।

राक्षस—अपनी कृतियों में महाकवि ने इस जाति का विविध नामों से उल्लेख किया है,२५ जिनमें निशाचर (रघु० १०।४५), यातुधान (रघु० १२।४५), दस्यु (रघु० १०।८६, १२।८७), दानव (अभि० शा० ७।३०, के पूर्व मातलि), असुर (विक्रमो० १।४ के बाद रंभा), नैऋत (रघु० ११।२१) कु० २।३२) आदि प्रमुख रूप हैं, जो इनकी प्रवृत्तियों वश, स्थान आदि के अनुसार विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। इनका देवताओं, यक्षों से रक्त-सम्बन्ध था, किन्तु उनसे वैर-भाव रखते थे। रामायण-काल में इनका मुख्यत निवास लंका द्वीप था, किन्तु भारत में भी इनके जनस्थान आदि विविध प्रदेशों में उपनिवेश स्थापित थे। रात्रि को भ्रमण करना, हिंस्र आक्रमण, स्त्री-अपहरण आदि इनकी प्रवृत्ति थी। मैदानी (जैसे विश्वामित्र के आश्रम के आस) तथा पर्वतीय (हेमकूटविक्रमो० २ अङ्क में) प्रदेशों में भी इनके अस्थायी आवास थे।

विद्याधर—विद्याधरों का भी कवि की कृतियों में उल्लेख हुआ है,२६ जिसके अनुसार

२३ पू० मेघ० ७, ६७।

२४ कुमार० ६।३९।

२५, रघु० १०।४१, ४३, ७४ , ११।१८, २६, २९ (विश्वामित्र के आश्रम के आसपास) १२।२८, ४२ (जनस्थान) ४९, ५३, १२।६१ (लंका), ८२, १३।२४ (लंका)।

२६, रघु० २।६०, कुमार० १।७ प्रजन्ति०, विक्रमो० ४।२ के बाद चित्र ४।२३।

स्पष्ट है कि यह जाति भी हिमालय प्रदेश के मन्दाकिनी नदी (गंगा के उद्गम) क्षेत्र से भिन्न नहीं बसी थी। पुरूरवा की विहारभूमि (गंधमादन-बद्रीनाथ श्रेणी की उ० पू० शृंखला) तथा दिलीप की नन्दिनी धेनु-चारण स्थली सब इसी प्रदेश से सम्बंधित प्रतीत होते हैं। ये लोग पर्याप्त शिक्षित होते थे, क्योंकि कवि ने विद्याधर सुन्दरियों द्वारा भोजपत्र पर प्रेम-पत्र लिखने का उल्लेख किया है। (कु० १।७) गन्धर्वों के समान ये भी गान-विद्या में निष्णात होते थे। अब भी इस क्षेत्र को पर्वतीय जातियां नृत्यगान को अपनाये हैं।

नाग—इस जाति का उल्लेख[२७] महाकवि ने किया है, जिसके अनुसार प्रतीत होता है कि इस जाति की कन्याएं बहुत सुन्दर होती थीं तथा पर्वतीय द्वीप या नदियों की शीत जलवायुयुक्त भागों में रहा करते थे। पुराणों में इन्हें रमणीय द्वीप का निवासी बताया गया है, किन्तु प्रधानतया यह हिमालय की ही एक पर्वतीय जाति थी, जो किरात, किन्नर यहां के आदिम निवासियों की भांति एक पृथक शाखा में थी। ह्वीलर के अनुसार' गढ़वाल में नागों का सम्बन्ध हम नागपुर, उरगपुर पट्टियों में पाते हैं। सार्वजनिक परम्परा बताती है कि अलकनन्दा-उपत्यका में नागों को बस्तियां थीं। पाण्डुकेशर में शेषनाग की पूजा की जाती है। रतगांव में भेकल नाग, तलोर में उगगल नाग, मरगांव में वनपुर नाग, जेलम में लोहण्डिहा नाग, नागनाथ में पुष्कर नाग पूजे जाते हैं। यह हिमालय का भाग नागों से सम्बन्धित है।[२८] राहुल सांकृत्यायन ने अपनी यात्राओं में यहां बहुत से ग्रामों में नागों के मन्दिरों के अवशेष प्राप्त किए, जिनमें पुष्कर, तक्षक वारचा आदि नाग नागपुर, दसोली पैनखाड़ा आदि उनके प्रसिद्ध गढ़ जैसे स्थानों में प्रतिष्ठित हैं उरगम (पैनखण्डा) में वैस्वा नाग, दसौली को तक्षक नाग आदि की आज भी प्रतिष्ठा है। प्राग्मौर्यकालीन नागों के अन्य अनेक गढ़ भारत के और भागों (राजगृह आदि) में[२९] मिलते हैं। संभव है, हिमालय के इस भाग में नाग जाति के और भी प्राचीन गढ़ रहे हों।

इन नागों की वेशभूषा शिल्प के आधार पर कुछ ज्ञात होती है[३०]—केवल अधोवस्त्र धारण करते थे, शेष तन अनावृत। शिर पर घने केश जिस पर फणाकार मुकुट-सा बनाये

---

२७. कुमार० १।२० नाग वधूपभोग्य० रघु० १६।७६, ८८, ६, ४९।

२८. भारत का इतिहास ह्वीलर उद्धृत हिमालय परिचय, राहुल० प्रयाग, पृ० ५०।

२९. हिमालय—परिचय, पृ० ५१।

३०. अजन्ता की ११वीं गुफा में बैठे एक नाग के पृष्ठ भाग का चित्र।

रखते थे। टी० डब्ल्यू० डेविड ने३१ इन्हें मरमेन तथा मरमेड के समान जलीय (शीत) जलवायु युक्त प्रदेश में आमोद-प्रमोद, विलास-वैभव युक्तवातावरण में वास करने वाला बताया है। किन्तु द्वीपीय प्रदेश नदी घाटियों के अतिरिक्त भारत में यदि शीत जलवायु सुलभ है तो हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में अत इन्हें कुमायूं गढ़वाल हिमालय का मूल निवासी मानना उचित है। वैसे नदियों में भी३२ महाकवि ने कालियनाग को यमुना से तथा कुमुद नाग को सरयू नदी से सम्बन्धित किया है।

पुलिन्द—आदिम जाति के रूप में इनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में३३ हुआ है, जिसके अनुसार पुलिन्दों की गणना म्लेच्छों के साथ की गई है। अमरकोश में भी इनको म्लेच्छ जाति के अन्तर्गत माना गया है (भेदा किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छ जातय) इसी आधार पर कालिदास द्वारा वर्णित पुलिन्दों को टीकाकार मल्लिनाथ ने म्लेच्छ ही मान लिया३४ किन्तु महाभारत में जिन म्लेच्छ जातियों को गिनाया है, उनमें यवन चीन, काम्बोज, पारसीक आदि सीमान्त प्रदेशों की बाहरी जातियां हैं (भीष्मपर्व, अध्याय ९ यवनाश्चीन काम्बोजा०— — —), किन्तु किरात, शबर और पुलिन्द आदि तो प्रागैतिहासिक काल से ही भारतीय आदिम जातियों के रूप में रह रही हैं। महाभारत युद्ध में इन्होंने भाग लिया था। इनका स्वतन्त्र राज्य था, जिसकी राजधानी पुलिन्दनगर थी। अत इन्हें म्लेच्छ मानना उचित नहीं। सभव है, समय समय पर राष्ट्र की आन्तरिक अशान्ति (लूटपाट) उत्पन्न करने के कारण, अथवा शिकार या वन्य निकृष्ट जीविका ग्रहण करने के कारण म्लेच्छ माना हो।

महाकवि ने इन पुलिन्दों का उल्लेख वन्य (विन्ध्य मौलेय) जाति के रूप में किया है, जिन्होंने कुशावती से अयोध्या को पुन राजधानी का रूप देने जाने वाले सम्राट कुश को विन्ध्य श्रेणियों में कन्द मूल, फल-फूल की भेंट देकर उसके दर्शन किये थे (रघु १६।१९, ३२) इस आधार पर पुलिन्दों का प्रदेश विन्ध्याचल की मध्य तथा पूर्वी श्रेणियों का ही क्षेत्र ही प्रतीत

---

३१ बुद्धिस्ट इण्डिया –टी० डब्ल्यू रेज़ डेविड—कलकत्ता—४९५७ पृ० १००-१०१।

३२. रघु० ६।४९ त्रस्तेन तार्क्ष्यात् किल कालियेन, रघु० १६।७९ नागेन लौल्यात कुमुदेन०।

३३. वाल्मी० रामा०, किष्किंधा०, ४३।१ तत्रम्लेच्छान् पुलिन्दांश्चैव:, महाभारत दिग्विजय २३।१४, उद्योग० १८६।८०।

३४. देखिए रघु० १६।१९, ३२ संजीवनी टीका, "पुलिन्दैः म्लेच्छविशेषैः"।

होता है। महाकवि बाण ने इसी भाग को 'विन्ध्याटवी' कहा है, जिसमें पुलिन्दों का भी वर्णन किया है। बृहत्कथा-श्लोक संग्रह (१८ अध्या० १७१ श्लो०) में सानुदास नामक सार्थवाह पर चम्पा से ताम्रलिप्ति तक के मार्ग में पुलिन्दों द्वारा धावा बोलने का उल्लेख है। अतः विन्ध्य की पूर्वी शृंखला भी पुलिन्द प्रदेश से सम्बन्धित करना उचित प्रतीत होता है।

लेवी के मतानुसार[३५] कुलिन्द और पुलिन्द एक ही शब्द हैं। कुलिन्दों के सिक्के हमीरपुर, लुधियाना, सहारनपुर आदि स्थानों में मिले हैं। इस आधार पर इन्हें शिवालिक प० श्रेणियों (जमुना-सतलज की ऊपरी घाटी) के प्रदेश से सम्बन्धित किया है।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल महाभारत में भीमसेन द्वारा दशार्ण विजय करने के पश्चात् उसके कुछ दक्षिण में पुलिन्दों की बस्ती पर छापा मारने के आधार पर इनके प्रदेश को विन्ध्याचल की तलहटी (ऊपरी बेतवा के दोनों तटों में फले अटवी राज्य) में निर्धारित करते हैं।[३६] उन्होंने इन्हें विन्ध्य मौलेय (विन्ध्यालोक) भी संज्ञा दी है[३७], जो विन्ध्य तथा उसके द० पू० के जंगलों के मूल निवासियों से भिन्न नहीं है।

पार्जीटर ने पुलिन्दों[३८] की कई शाखाएं मानी हैं, जिनमें प्रमुख हैं (१) पश्चिमी हिमालयीय तथा (२) दक्षिणी शाखाएँ। संभवत कालिदास के पुलिन्द दक्षिणी शाखा से अभिन्न हैं। डी० सी० सरकार के अनुसार ये लोग[३९] आदिम (एबोरीजीनल) जाति के हैं, जो विन्ध्य पर्वत पर रहने वाले पहाड़ियों से भिन्न नहीं है। ए० पी० करमर ने पुलिन्दों[४०] को एक भारतीय आदिम जाति के अन्तर्गत गोत्र-चिह्न (टोटेमिक) के आधार पर ग्रहण किया है, जो प्रागार्य भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित रहे हैं।

समीक्षा—वस्तुत कालिदास के पुलिन्द अर्द्ध-सभ्य पर्वतीय जाति के हैं, जो पार्जीटर-निर्दिष्ट दक्षिणी शाखा में विन्ध्य-प्रदेश के अन्तर्गत ग्रहण किए जा सकते हैं। यदि हिमालयीय शाखा से कभी इनका सम्बन्ध रहा हो तो आसाम-हिमालय के दक्षिण प्रदेश को पुलिन्दों

---

३५ जे० ए० १९२१ पृ० ३०।

३६. भारत—सावित्री, दिल्ली, १९५७, डा० अग्रवाल, पृ० १३८।

३७ मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, १९६२, पृ० १५२।

३८ मार्कण्डेय पुराण—अनुवाद प० ३१९, ३५, ३३८।

३९ स्टडीज इन दी जागरफी (आफ एन्सी० एण्ड मेड० इण्डिया,) पृ० ९५ दिल्ली, १९६१।

४०. इन्ड० वाल्यू० ३, न० १ मार्च, १९६६ पृ० १-६ पुलिन्दाज-ए प्रोटस इण्डिया टोटेमिक ट्राइब।

की निवास-भूमि माना जा सकता है। क्योंकि दक्षिण आसाम में हाथी अधिकांशत होते हैं और ये पुलिन्द उनका शिकार कर हाथी-दाँत ग्रहण कर व्यापारियों को बहुमूल्य में बेचते थे। व्यापारियों द्वारा हाथी दाँत एकत्रित करने के लिए पुलिन्दों को बयाना (Advance Money) देने का उल्लेख साहित्य में हुआ है।४१ इन पुलिन्दों का चाण्डाल वर्ग के पुण्ड्रों के साथ वैदिक-साहित्य (ऐत० ब्रा० ७।१८, सांख्या० श्रौत सूत्र १५।२६) में उल्लेख हुआ है, जिसके आधार पर यह झारखण्ड, छोटानागपुर (दक्षिण बिहार के प्रदेश) से भिन्न नहीं है।४२ अत विन्ध्यकी मध्य-श्रेणियों से दक्षिणी बिहार की सीमा तक प्राचीन पुलिन्दों का प्रदेश मानना उचित है। महाकवि कालिदास का वर्णन भी इसी के अनुकूल है। मुख्यत वन्य जाति होने के कारण यह कन्दमूल फलफल, हाथी-दात, चर्म आदि एकत्र करती शिकार की खोज में दूर दूर तक एक प्रदेश के वन से दूसरे प्रदेश के वन में घूमा करती थी। अत सम्भव है, नेपाल के मध्य हिमालय या आसाम में हाथी दांत एकत्र करने जाती हों, किन्तु मूलत इन्हें मध्य-पूर्वी विन्ध्य पर्वतीय श्रेणियों के प्रदेश से सम्बन्धित समझना चाहिए।

वनेचर (वनचर)—महाकवि ने अपनी कृतियों में वनचर जाति के भी स्त्री-पुरुषों का उल्लेख४३ किया है, जिसके अनुसार ज्ञात होता है कि ये लोग अपनी स्त्रियों को लेकर प्राय. आजीविका की खोज में एक वन से दूसरे वन में घूमा करते थे। स्त्रियाँ भी स्वच्छन्द रूप से वन-विहार किया करतीं थीं (पू० मे० १९) कवि ने इस प्रकार की एक वनचरी का मध्यप्रदेश के सम्भवत छिन्दवाड़ा जिले के आम्रकूट वन में कुञ्ज की शीतलता का सेवन करते वर्णन किया है। (पू० मे० २०) सम्भव है, अपने पुरुषों के साथ (काय) आजीविका से परिश्रान्त होकर या आतप से त्राण पाने के लिये घने कुञ्ज में विश्राम, मनोरंजक-विलास पूर्ण विश्राम करने लगती हों। वसे हिमालय पर भी महाकवि ने वनचर दम्पति को विलास-रत चित्रित किया है। मूल रूप में इसे प्राचीन पर्वतीय जाति का ही कहा जा सकता है, जिसका यद्यपि आवास-रूप अस्थायी रहता है, किन्तु फिर भी प्रधानतया राजस्थान, मध्यप्रदेश (विन्ध्य, सतपुड़ा की पूर्वी श्रेणी आम्रकूट) उत्तरप्रदेश के (हिमालय) पर्वतीय क्षेत्रों में

---

४१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ८२३।

४२ प्राक् मौर्य बिहार, डा० देवीसहाय द्विवेद पटना १९५४, पृ० २२।

४३, कुमार० १।१० वनेचराणां वनिता सखानां, पू० मे० २० स्थित्वा तस्मिन वनचर बधू मुक्तकुञ्ज मुहूर्तम।

रहा करते हैं। किन्तु ग्रियर्सन के मतानुसार४४ ये पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में सर्वत्र दिखाई देते हैं। जो आज की बनजारा जाति से भिन्न नहीं है।

बनजारा या बनजर शब्द वनेचर या वनचर के अपभ्रंशरूप हैं। सत्यव्रत सिद्धांतालंकार४५ इन्हें जरायम पेशा (अपराधी) जनजातियों में मानते हैं। ये बनजारे आज भी अपना प्राचीन रूप ग्रहण किए मैदानी या जंगली भाग में कुत्तों को साथ लिए घूमते शिकार करते हैं। राजस्थान, उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश के जिलों में अब भी बहु संख्या में डेरों में आबाद हैं। भगवान दास केला४६ ने १९४१ की देश की जनगणनानुसार इनकी संख्या ३८५४ निर्दिष्ट की है जिसमें उत्तर प्रदेश को उपेक्षित छोड़ दिया है, जबकि यहां बनजारे काफी हैं। किन्तु, अब ये ५००० से भी अधिक संख्या में विद्यमान हैं, जो प्राय मांस-भोजी हैं और ग्रामों या नगरों में जाकर जगली जानवरोंकी खाल (हिरन आदि) बारहसिंगे के सींग, शहद, गोह का तेल आदि बेचा करते हैं। कजर जाति बहुत कुछ इनसे मिलती जुलती है, किन्तु ये हैं सर्वथा भिन्न, जिन्हें यहाँ की आदिम जाति के ही रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

निषाद—प्राचीन४७ साहित्य में निषाद जाति का पर्याप्त उल्लेख हुआ है, जिसमें ऐत० ब्रा० ८।११ के अनुसार ये लोग दस्युवग में थे, जो व्यापारियों को मारकर गड्ढों में फेंक देते थे। पौराणिक परम्परा (श्रीमदभा० ४।१४) इन्हें राजावेणु के दाहिने अंग से उत्पन्न मानती है। महाकवि ने इनका रघु० १२।५३, १५।५२, ८० आदि स्थलों मे वर्णन किया है, जिससे ज्ञात होता है कि निषाद जाति का अस्तित्व यहां उत्तर-प्रदेश के मैदानी-भागों में था। रघु० १२।५३ के उल्लेख से स्पष्ट है कि निषाद लोग अपना एक सगठन (शासन) बनाकर एक मुखिया के संरक्षण मे पुरों में निवास करते थे, क्योंकि वनवास-काल में राम अयोध्या से निषाद राज्य होकर वन गये थे। अत ज्ञात होता है उस समय ये लोग उ० कौशल की

---

४४. उद्धृत-भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं, देहरादून, १९६०, सिद्धान्तालंकार पृ० १०६।

४५ भारत की जन-जातियां तथा संस्थाएं, देहरादून, १९६०, पृ० १०६, सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत।

४६. हमारी आदि जातियां, भगवानदास केला, इलाहाबाद, १९५०, पृ० ३४९।

४७. ऐत० ब्राह्मण ८।११ वाल्मी० रामायण बाल० अ० २।२१, अयो०, महाभारत २।२८।४४-४५, श्रीमदभाग १।१४।

दक्षिणी सीमा पर गंगातट पर बसे हुए थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[४८] के मतानुसार निषाद जातियों का आर्यों से सम्मिलन था और इनके निवास क्षेत्र की सीमा कौसल राज्य की सीमा तक विस्तृत थी। उस समय इनका प्रमुख धंधा नौका-निर्माण करना तथा उससे लोगों को गंगा के आर पार उतारना भी था, क्योंकि लक्ष्मण को सीता-वनवास के समय निषाद जाति के व्यक्ति ने ही अपनी नौका द्वारा गंगा-पार कराया था।[४९] ये शिकार करके भी अपनी आजीविका-वहन करते थे, जिसमें हिरन आदि पशुओं के अतिरिक्त पक्षियों को भी मारते थे।[५०] अत इन्हें व्याध या बहेलिया के रूप में भी व्यवहृत किया गया है, किन्तु उस समय इन्हें 'गुह' कहा जाता था, जो अधम और अस्पृश्य समझे जाते थे।

निषाद जाति के लोग सामान्यतया दक्षिण अग से नाटे, श्याम वर्ण के कौए से काले, चपटी नाक पैर छोटे, लाल आँख के तथा घुंघराले बाल वाले होते हैं[५१]

आर० के० मुकर्जी के अनुसार[५२] निषाद लोग निम्न जाति के चाण्डाल जैसे अस्पृश्य होते हैं, जिनका प्रमुख धधा शिकार करना था।

सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के विचार से यद्यपि[५३] निषाद आग्निक वर्ग से भिन्न नहीं हैं प्रागार्यकाल में बाहर से आने वाली जातियों में से एक हैं, तथापि आदिम जातियों से सम्बन्धित इन्हें यहां के आदिवासी ही मानना उचित है।

सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने डा० हट्टन[५४] बी० एस० गुहा, ए० सी० हैटडन के मतों के आधार पर निषादों का प्रोटो आस्ट्रलायड (आग्नेय या द० पू०) स्वीकार कर आदि द्राविड़ बताया है, जिन्हें वे मध्यप्रदेश, द० भारत उनके निवास क्षेत्रीय प्रदेशों से सम्बन्धित मानते हैं। ये चाकलेट जैसे काले रंग के लोग जंगलों में यत्र तत्र घूमा करते थे।

---

४८. भारत की मौलिक एकता, पृ० १२७, डा० अग्रवाल, प्रयाग १९५४।

४९. रघु० १४ ५२, गगा निषादाहृतनौविशेषस्ततार सधामिव सत्यसन्ध.।

५० रघु० १४।७० निषादविद्धाण्ड ज०— — -

५१. कलकत्ता रिव्यू, भाग ६९, पृ० ३४९।

५२ एनसियेन्ट इण्डिया, आर० के० मुकर्जी, इलाहाबाद, १९५७, पृ० १२२।

५३ आदिवासी (आदिवासियों की भाषाएँ) प्रकाशन-विभाग, भारत सरकार, दिल्ली, १९५९ पृ० ६४।

५४. भारत की जन जातियां तथा संस्थाएं, देहरादून, १९६०, सत्यव्रत सिद्धान्त, पृ० ४८, ४९।

समीक्षा—यह निषाद जाति भारत की प्रागार्यकालीन आदिम जाति है, जो सिन्धु-घाटी-सभ्यता की समकालीन प्रतीत होती है। अत इन्हें द्रविड़ कहना भी उपयुक्त है, किन्तु सभ्यता या संस्कृति की दृष्टि से ये आर्यों से हीन नहीं थे। कालान्तर में अवश्य पतनोन्मुख होकर पनपते रहे और सामान्य हिंस्र वृत्ति, (शिकार या दस्यु-कर्म) अपना कर या नौका चलाकर अपनी जीवका चलाने लगे। अब ये उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार आदि प्रदेशों में नदियों के तटों पर यत्र तत्र फैले रह रहे हैं अथवा मद्रास त्रावणकोट, उड़ीसा के समुद्र तटों पर वही पुराने मत्स्य या नौका उद्योग में लगे हुए हैं।

उपसंहार— इस प्रकार कवि द्वारा उल्लिखित आदिम जातियों तथा उनके प्रदेशों को प्रत्याभिज्ञान का प्रयास यहाँ किया गया है। जिससे अनुसंधित्सुजनों को इनकी भाषा, सामाजिक-रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, नृत्य, लोकगीत आदि विविध अंगों के सूक्ष्म अध्ययन करने में एकदिशा प्राप्त हो सकेगी। आदि काल से ही इन आदिम जातियों का भारतीय-सभ्यता और संस्कृति को समन्वित रूप देने में महत्त्वपूर्ण योग रहा है, चाहे वह किसी प्रकार का क्यों न हो ? और अब तक ये लोग अपने ही अंग होते हुए भी अन्धकार में पड़े हमसे उपेक्षितप्राय ही रहे हैं, किन्तु आशा है अब और अधिक इस स्थिति में ये नहीं रहेंगे।

विद्यापति की छन्द-योजना

गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र'

विद्यापति ने संस्कृत, अवहट्ठ और मैथिली इन तीन भाषाओं में ग्रथों की रचनाएँ अवश्य की हैं, किन्तु उनकी कीर्ति मुख्यत अवहट्ठ और मैथिली भाषा में लिखित ग्रथों पर ही अवलंबित है। कीर्त्तिपताका की जो प्रति अभी प्राप्त है, उसका पाठ एकदम भ्रष्ट है। उसके मूल पाठ का उद्धार एकांतत उसकी छन्द परीक्षा के द्वारा ही संभव हो सकता है। हर्ष की बात है कि डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव इसके मूल पाठ का उद्धार इसी आधार पर कर रहे हैं। जब तक इसके पाठ का सुधार नहीं हो जाता और यह सुसपादित होकर हिन्दी-जगत में नहीं आती, तब तक इसके छन्दों का निरूपण नहीं हो सकता। कीर्तिलता और पदावली दोनों के सपादन विद्वानों के द्वारा हो चुके हैं। अत इन दोनों ग्रथों के छन्दों का विवेचन करना ही मेरे इस प्रबध का प्रतिपाद्य है।

कीर्त्तिलता के अपने संस्करण में डा० वासुदेवशरण ने उसके अनेक छन्दों का निरूपण किया है। भूमिका में प्राकृतपैंगलम् के अनुसार उनके लक्षण भी दिये हैं। किन्तु, कुछ छन्दों को उन्होंने बिलकुल छोड़ दिया है। कीर्त्तिलता में विद्यापति ने मात्रिक सम और अर्द्धसम के साथ-साथ अनेक वर्णवृत्तों का भी प्रयोग किया है। वर्णवृत्तों में मालिनी, अनुष्टुप शार्दूलविक्रीडित रथोद्धता, भुजगप्रयात स्रग्धरा, पृथ्वी, नाराच, मल्लिका (अन्य नाम समानी) विद्युन्माला तथा तोटक के प्रयोग हुए हैं। इनमें मालिनी, अनुष्टुप, शार्दूल विक्रीडित, रथोद्धता, स्रग्धरा और पृथ्वी छन्दों में जो पद्य निबद्ध हैं, वे संस्कृत भाषा में हैं। शेष पाँच छन्दों में अवहट्ठ भाषा का प्रयोग हुआ है। डा० अग्रवाल ने पद्रह अक्षर वाले एक निशिपाल (भ ज स न र) की चर्चा की है और यह उदाहरण दिया है

> चलिअ तकतान सुरुतान इबराहिमओ।
>
> कुरुम भण धरणि सुण धरण बल नाहि मो।
>
> गिरि टरइ महि पड़इ नाग मन कंपिआ
>
> तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झाँपिआ। (३।६५-६८)

प्रा० पैं० के अनुसार निशिपाल के प्रत्येक चरण में एक गुरु और तीन लघु की तीन बार आवृत्ति होती है और अंत में रगण रहता है।[1] कीर्त्तिलता के इन पद्यों में निशिपाल के लक्षण का बिलकुल पालन नहीं हुआ है। गण व्यवस्था नहीं होने के कारण उक्त पद्य के दूसरे चरण

---

[1] देखिये—प्रा० पैं० २।१६०।

में अठारह अक्षर हैं और शेष तीनों चरणों में १७-१७ अक्षर। डा० अग्रवाल ने माणवहला छन्द के लक्षण के अन्तर्गत लिखा है—पहले पाद के दूसरे मगण में प्रथम गुरु अक्षर के स्थान में दो लघु प्रयुक्त हुए हैं। यह अपभ्रंश कवियों की बहु-प्रचलित रीति थी।२ अवश्य अपभ्रंश कवियों ने इस प्रकार की स्वतंत्रता का उपयोग किया है। इतना ही नहीं, वे तो कहीं-कहीं दो लघु की जगह एक गुरु का भी प्रयोग करते थे। विद्यापति में भी ऐसी स्वच्छन्दता दिखलाई पड़ती है। जैसे—

नं आहव माहव संभु करे। ४।२३७

वाणासुर जुज्झइवत्त भरे। ४।२३८

यहाँ तोटक की उपरिलिखित पंक्तियों में प्रारंभिक दो लघु की जगह एक गुरु का प्रयोग हुआ है। ऐसे प्रयोग इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि संस्कृत वर्णवृत्त अपभ्रंश आदि भाषाओं में धीरे-धीरे मात्रिक रूप धारण कर रहे थे। इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देने के फलस्वरूप ही विद्वानों ने उलटी गंगा बहाई कि मात्रिक छन्द ही शिक्षित कवियों के हाथों में पड़कर वर्णवृत्तों में परिणत हो गये, जिसका खण्डन मैंने अपने शोध-प्रबंध 'सूर साहित्य का छन्दशास्त्रीय अध्ययन' में किया है। अपभ्रंश कवियों ने ऐसी स्वच्छन्दता अवश्य दिखलाई है, पर कहीं-कहीं, सकोण स्थलों पर ही। विद्यापति के उक्त पद्यों में वह स्वच्छन्दता नहीं दिखलाई पड़ती। यहाँ तो स्पष्ट नियमोल्लंघन है। अतः इन पद्यों में निशिपाल छन्द मानना एकदम गलत है। यह निशिपाल का मात्रिक रूप है, जिसे अपभ्रंश छन्दशास्त्री मदनावतार या कामिनीमोहन कहते हैं। भानु ने इसी छन्द को अरुण कहा है।

डा० अग्रवाल ने मालिनी, अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीडित, भुजंग-प्रयात, पृथ्वी, नाराच, विद्युन्माला का तो निर्देश किया है, किन्तु कुछ पद्यों के छन्दों के संबंध में कुछ नहीं लिखा। संस्कृत में लिखित निम्न पद्य—

ईश मस्तक निवास पेशला।

भूतिभार रमणीय भूषणा।

कीर्त्तिसिंह नृप कीर्ति कामिनी।

यामिनीश्वर कला जिगीषतु। १।१०३-१०६

रथोद्धता (र न र ल ग) छन्द में निबद्ध है। यह वही छन्द है, जिसमें कालिदास ने कुमारसंभव के अष्टम सर्ग की रचना की है।

---

२. कीर्त्तिलता की भूमिका, पृ० १२०।

सौवत्प्रत्यर्थि कान्तामुखमलिन रुचां वीक्षणै पंकजानां (२।२५७-२५५) वाले पद्य का रचना स्रग्धरा वृत्त में हुई है। डा० साहब ने इसके छन्द की ओर कुछ निर्देश नहीं किया। इसी प्रकार निम्न पद्य

विछि वाछि तेज ताजि
पष्ख रेहि साजि साजि।
लष्ख संख आनु घोर
जासु भूले मेरु थार। (४।४०-४२)

के छन्द के सबध में भी वे एक-दम मौन हैं। यह मल्लिका (अन्य नाम समानी, (र ज ग ल) का उदाहरण है। इसमें प्रारम्भिक 'वि' का दीर्घोच्चारण और रेखांकित 'ले' का ह्रस्वोच्चारण छन्दोरक्षा के लिये अपेक्षित है। इस छन्द का विद्यापति ने कीर्त्तिपताका में विशद प्रयोग किया है।

इसी प्रकार—

हसि दाहिन हथ्थ समथ्थ भइ।
रणवस्त पलट्टिअ ग्गग लइ।

का लक्षण चार सगण तो डा० अग्रवाल ने ठीक बतलाया, पर चार सगण वाले तोटक छन्द का नामोल्लेख नहीं किया। इसी तोटक छन्द में लिखित दो पंक्तियों में विद्यापति ने दो लघु की जगह एक गुरु का प्रयोग किया है। जिसकी चर्चा ऊपर की गई है।

कीर्त्तिलता में मात्रिक छन्द के सभी प्रकारों का प्रयोग हुआ है। अरिल्ल, गीतिका, पद्मावती, पज्झटिका, मधुभार, प्रमानरी, रोला, वाली, माणवहला, दोहा, रड्डा, गाहा तथा छप्पय का निर्देश तत्तत् पद्य के ऊपर किया गया है। इन छन्दों में अरिल्ल से लेकर माणवहला तक सम छन्द हैं। दोहा अर्द्धसम और रड्डा एव गाहा विषम छन्द हैं। छप्पय को हम मिश्र छन्द के अन्तर्गत ले सकते हैं। कीर्त्तिलता में प्रयुक्त गीतिका छन्द में २६ की जगह २८ मात्राएँ हैं। अत यह आजकल का हरिगीतिका छन्द है। इसी प्रकार पज्झटिका पद्धरि छन्द है और प्रमानरी आजकल का ३० मात्रापादी चौपैया छन्द है। जैसे—

राउत्ता पुत्ता, चलइ बहुत्ता, पअ भरे मेइणि कम्पा।
दत्ताके चिन्हे, भिन्ने भिन्ने, धूली रवि रह झम्पा। (४।१०८-१०९)

चौपैया छन्द के लक्षणानुसार इसमें ३० मात्राएँ और १०८-१२ पर यति स्पष्ट है। वाली और माणवहला छन्द के नाम से जो पंक्तियाँ लिखित हैं, उनमें न तो कोई गणव्यवस्था मिलती

है, न मात्राओं की समानता और न अन्त्य लघु गुरु का कोई निश्चित नियम। डा० अग्रवाल ने वाली को समद्विपदी मानकर इसमें १४ मात्राएँ मानी हैं और ३+४+३+४ की गण-व्यवस्था बतलाई है, किंतु उनका लक्षण सभी पंक्तियों पर घटित नहीं होता। मेरे विचार से ये सभी पंक्तियाँ लीला छन्द में लिखी गई हैं, जो मल्लिका (र ज ग ल) का मात्रिक रूप है। कुछ पंक्तियां तो लीला के निर्दोष उदाहरण हैं। जैसे —

काहु वहल भार बोझ। काहु वाट कहल सोझ। (२।७१-७२)

कनहु बाँग कहहु वेद। (२।१९०)

कटक लटक, पटक वाज। (३।९२)

कुछ पंक्तियां गुरु के ह्रस्वोच्चारण से ठीक हो जाती हैं। जैसे—

काहु पाती मेलि पैठि।
काहु सेवक लागु भैठि। } २।६७-६८

किंतु अनेक पंक्तियाँ बड़ी अस्तव्यस्त हैं। इस अस्तव्यस्तता का यही कारण कहा जा सकता है कि या तो इन पंक्तियों के मूल पाठ का उद्धार नहीं हो सका है या विद्यापति ने इन पंक्तियों का निर्माण प्रा० पैं० के इस सिद्धांत के आधार पर किया है कि यदि जीभ किसी दीर्घ वर्ण को ह्रस्व कर के पढ़े, तो वह भी लघु होता है। साथ ही तेजी से पढ़े गये दो-तीन वर्णों को भी एक ही वर्ण गिनना चाहिये।३ बात चाहे जो हो, पर ये पंक्तियाँ लीला की कही जा सकती हैं, क्योंकि अस्तव्यस्त पंक्तियों में भी लीला की लय और गूँज स्पष्ट है।

माणवहला छन्द के अन्तर्गत कीर्त्तिलता की १४ पंक्तियाँ रखी गई हैं। डा० अग्रवाल ने इसके लक्षण में तीन भगण और दो गुरु माना है। साथ ही एक गुरु की जगह दो लघु के प्रयोग की भी बात कही है।४ किन्तु, बात वस्तुतः यह है कि ये पंक्तियाँ भी बड़ी अस्तव्यस्त हैं और इन पर तीन भगण और दो गुरु का लक्षण घटित नहीं होता। माणवहला की चौदह पंक्तियां निम्नलिखित हैं—

सावर एकहा कनन्हिक हाथ
वेत्थल कोत्थल वेढल माथ।
दूर दुग्गम आगि जारथि।
नारि बिमालि बालक मारथि।

---

३. देखिये—प्रा० पैं० १८।

४. देखिये—भूमिका, पृ० १२०।

लूलि अज्जन पेटे वए ।
असाए ऋद्धि कन्दल खए ।
न दीनाक दया न सकनाक उर ।
न वामि सम्बर न बिआहीं घर ।
न पापक गरहा न पुण्यक काज ।
न सत्रूक सका न मित्रक लाज ।
न थिर वअण न थोर ग्राम ।
न जसक लोम न अपजस त्राम ।
न शुद्ध हृदय न साधुक सग
न पिउत्रा उपसम न जुमवा भग । (४।८८-९०५)

इनमें पहली दो स्पष्टत चौपई की पंक्तियाँ हैं, जिसका प्रयोग विद्यापति ने पदावली में सबसे अधिक किया है । दूर को 'दूरे' आगि को 'आगी' तथा विभालि को 'विभालि' कर देने से तीसरी और चौथी पंक्तियाँ अरिल्ल छन्द की हो जाती हैं । पाँचवी और छठी पंक्तियाँ चौबोले की हो जाएँगी यदि लूलि को जगह 'लली' कर दिया जाय और 'ऋद्धि' शब्द 'असाए' के पूर्व रक्खा जाय । शेष आठ पंक्तियों में ऐसे परिवर्तन से काम नहीं चलता । इनके पाठ से प्रतीत होता है कि ये सभी पंक्तियाँ सप्तदशमात्रिक हैं, जिनमें ९-८ पर यति है । छन्द-दृष्टि से संपादन नहीं होने के कारण अस्तव्यस्त हो गई हैं । पर यह सप्तदश मात्रिक कौन-सा छन्द है ? शास्त्रों में ऐसे छन्द के अनुल्लिखित होने के कारण ये पंक्तियाँ माणवहला की मान ली जा सकती हैं ।

डा० अग्रवाल ने कीर्तिलता में प्रयुक्त कुछ ऐसे छन्दों का भी निर्देश किया है, जिनका कोई नाम नहीं दिया गया है । निम्नांकित छन्द इसी प्रकार के हैं –

(क) फरमान भेल, कओोण चाहि । तिरहुति लेलि, जन्हि साहि ।
डरे कहिनी, कहए आन । जेहीं तोहे ताहीं असलान । (३।१८ १९)

(ख) वाट, सन्तरि, तिरहुति, पइठ ।
तकत, चढ़ि, सुरतान, वइठ । (४।१३९-१४०)

इनमें (क) को डा० अग्रवाल ने १४ मात्राओं का माना है और प्रत्येक चरण में सगण, जगण, गुरु, लघु गुरु, लघु की व्यवस्था बतलाई है।[५] पर यह लक्षण इसके चारो चरणों

५. देखिये—भूमिका पृ० १२३ ।

पर घटित नहीं होता। यह वस्तुत लीला के लय पर चलने वाला द्वादश मात्रिक छन्द है। अवश्य 'फरमान' 'तिरहुति' और 'असलान' शब्द मात्राधिक्य लाकर लय में कुछ व्याघात उपस्थित करते हैं। 'ख' को डा० साहब ने पंचदश मात्रापादी माना है और इसका निर्माण ३+४+४+४ से बतलाया है।६ कीर्तिलता में इस प्रकार की दो ही पंक्तियाँ हैं। इनका लय बहुत कुछ कज्जल छन्द पर आधारित है। कज्जल के अत में ऽ। रहता है और इनकी समाप्ति नगण से होती है। बस, इतना ही अतर है। कज्जल का उल्लेख अपभ्रंश छन्द-शास्त्रों में तो नहीं मिलता किंतु सरहपा में दो एक छिटपुट पंक्तियाँ मिल जाती हैं।७ चन्दवरदाई ने भी इसका प्रयोग किया है।८

इन दोनो छन्दों के अतिरिक्त कीर्तिलता के निम्नलिखित छन्दों के नाम भी नहीं दिये गये हैं—

> चौसा अंतर दीप दिगन्तर पाति साहि दिग विजअ भम।
> दुग्गम गाहन्ते कर चान्ते वेरि सध्थ सहणइ जम। (३।८१-८२)
> कइ कइ कंता सन्चु भणन्ता किमि परिसेना संचरिआ।
> किमि तिरहुत्ती होअऊँ पवित्ती अरु असलान किक्करिआ। (४।१-२)

मेरे विचार से ये पंक्तियाँ मरहठा माधवी की हैं, जिसमें १६-१३ पर यति देकर २९ मात्राएँ होती हैं और अंत मे गुरु रहता है। यहाँ प्रथम दो पंक्तियों में एक गुरु को जगह दो लघु रक्खे गये हैं। साथ ही 'दुग्गम' के प्रयोग से दूसरी पंक्ति में ३१ मात्राए हो गई हैं। पर लय मरहठा माधवी को है, इसमें सन्देह नहीं। इन पंक्तियों में आभ्यन्तर तुक-योजना के कारण नीचे की दो पंक्तियाँ छपद के अन्तर्गत रख दी गई हैं।९ पर छपद तो छप्पय छन्द है, जिसका निर्माण रोला और उल्लाला के योग से होता है। इन दो पंक्तियों के बाद जो चार पंक्तियाँ हैं, वे दोहे की पंक्तियाँ हैं। अत इसे छपद के अन्तर्गत रखना भ्रमोत्पादक

६. देखिये—भूमिका, पृ० १२२।

७. दोहा-कोश' राहुल साकृत्यायन, ५७ पृ० १४।

८. चंदवरदाई और उनका काव्य . डा० विपिनविहारी त्रिवेदी, स० ३७ छ० १२९-१३१, स० ४५, छ० ८-१०।

९. देखिये—पृ० २०९ (कीर्तिलता-डा० अग्रवाल)

है। मरहठा माधवी का उल्लेख अपभ्रंश छन्द शास्त्रों में नहीं मिलता। पर सरहपा तथा संस्कृत कवि जयदेव में इसका प्रयोग मिलता है। जैसे—

> तिअ धाउ खाट पड़िलो सबरो महासुखे सेज छाइली।
> सबर भुजग नैरामणि दारी पेक्ख राति पोहाइली।
>
> —दोहाकोश राहुल, भूमिका,

> कुरु यदुनदन चंदनशिशिरतरेण करेण पयोधरे।
> मृगमद पत्रकमत्र मनोभव मंगल कलश सहोदरे।
>
> —गीतगोविन्द, सर्ग १२

यदि यति व्यवस्था पर ध्यान नहीं दें तो मात्रा और गणव्यवस्था के आधार पर स्वयभू-द्वारा उल्लिखित गरुडपद और उपगरुडपद छन्द से मरहठा माधवी का सबध जोड़ा जा सकता है।[१०] विद्यापति ने मरहठा माधवी का प्रयोग पदावली के दो पदों में भी किया है।

कीर्त्तिलता में चार पंक्तियाँ मुक्तामणि छन्द की भी मिलती हैं। यथा—

> चापि कहुओ सुरतान के छाँटे करओ उपाए।
> बिन बोलन्त जो मन पलइ आव कन इत ओराए। (३।१४७-१४८)
> त खणे पेक्खअ राअ सो अरु सुप्सेअ करेओ।
> जे करे मरिअ वप्प मह से कर कमन हरेओ। (४।२४१-२४२)

मुक्तामणि का निर्माण दोहे के अंतिम लघु को गुरु कर देने से हो जाता है। यहाँ तीन पंक्तियाँ स्पष्टत दोहे की हैं। दूसरी पंक्ति में 'वो का ह्रस्वोच्चारण करने तथा 'आव कन इत' की जगह 'कन इत आव' कर देने से दोहे की लय आ जाती है। अत ये पंक्तियाँ मुक्तामणि की अवश्य कही जायेंगी। हाँ, यदि अंतिम गुरु का ह्रस्वोच्चारण माना जाय, तो ये दोहे कहे जायेंगे। डा० शिवप्रसाद सिंह वाली प्रति में 'उपाए' और 'राए' की जगह 'उपाय' और 'राय' ही हैं। मुक्तामणि का उल्लेख भी अपभ्रंश छन्द शास्त्रों में नहीं मिलता। पर सरहपा और गोरखनाथ में इसकी छिटपुट पंक्तियाँ मिल जाती हैं। पृथ्वीराजरासो और विद्यापति की पदावली में अवश्य यह छन्द प्राप्त नहीं होता।

दोहा, रड्डा और छप्पय का कीर्त्तिलता में विद्यापति ने विशद प्रयोग किया है। प्रा० पैं० के अनुसार रड्डा के करभी, नन्दा, मोहिनी, चारुसेनी, भद्रा, राजसेनी और तालंकिनी

---

१०. स्वयंभूच्छन्द ६।१३५-१३६

ये सात भेद होते हैं।११ कीर्तिलता में रड्डा के चारुसेनी (१५+११+१५+११+१५ मा०) और राजसेनी (१५+१२+१५+११+१५) भेदों का ही विशेष प्रयोग हुआ है। यों तालकिनी (१६ + १२ + १६ + १२ + १६) और मोहिनी (१९+११+१९+११ + १९) भी एकाध बार प्रयुक्त हुई है।१२ छप्पय के अन्तर्गत उल्लाला के दोनों रूपों (१५-१३ और १३-१३) को विद्यापति ने प्रश्रय दिया है। जैसे—

> ताकि रहै तसु तीर लै बैठाव मुकदम वाहि घ।
> जौ आनिअ आन कपूर सम तबहु पिआजु पिआजु पै। (२।१८४-१८५)

इसमें पहली पंक्ति १२-१३ की और दूसरी १५-१३ की हैं।

इस प्रकार विद्यापति ने ३१ छन्दों का प्रयोग कर कीर्तिलता की रचना की है। इन छन्दों में मालिनी, अनुष्टुप, शार्दूलविक्रीड़ित, रथोद्धता, भुजंगप्रयात, स्रग्धरा, पृथ्वी, नाराच, मल्लिका, विद्युन्माला और तोटक ये १२ वर्णवृत्त हैं। अरिल्ल, गीतिका (हरिगीतिका), अरुण, पद्मावती, पज्झटिका, मधुभार प्रमानरो (चौपैया) रोला, वाग्गी, माणवहला, चौपई चौबोला, लीला, कज्जल, मरहठा माधवी, मुक्तामणि, दोहा, रड्डा, गाहा और छप्पय ये २० मात्रिक छन्द हैं।

पदावली के छन्दों का निर्धारण आज तक नहीं हुआ। पदावली में पदों का संग्रह है और पद की गेयता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी गेयता के कारण विद्वानों ने पदावली के पदों के छन्द निरूपण की ओर ध्यान नहीं दिया। पद की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें सामान्यत एक ऐसी छोटी पंक्ति रहती है, जिसकी गाने में बार-बार आवृत्ति होती है। इसीलिए संगीतज्ञ इसे स्थायी या ध्रुवपद कहते हैं। सामान्यत यह टेक कही जाती है। भरत ने इसे छन्दक कहा है। यह पंक्ति प्राय पद के आदि में रक्खी जाती है। विद्यापति के अनेक पद तो छन्दक-विहीन हैं। कुछ में छन्दक पद के प्रारंभ में रक्खा गया है और कुछ में दो पंक्तियों के बाद। जैसे—

> देख देख राधा रूप अपार।
> अपरुब के विहि आनि मिलाओल
> खिति तल लावनि सार। पद २

---

११. देखिये—प्रा० पैं० १।१३६

१२. ,, कीर्तिलता, भूमिका, पृ० १०९, सं० वासुदेवशरण अग्रवाल

सुरत समापि सुतल वर नागर पानि पयोधर आपी।
कनक संभु जनि पूजि पुजारी धरण सरोरुह झाँपी।
सखि हे माधव केलि विलासे।
मालति रमि अलि ताहि अगोरसि पुन रतिरगक आसे। पद ८६

विद्यापति के समकालीन चण्डीदास में भी छन्दक के दोनों प्रयोग मिलते हैं१३। कबीरदास ने छन्दक को बराबर पद के प्रारंभ में रक्खा है। यों उनके बाद भी रैदास और नानक आदि के पदों में दो पंक्तियों के बाद छन्दक प्रयुक्त हुआ है। सूरदास ने छन्दक को बराबर पद के आदि में ही रक्खा है और उनके पश्चात् तो सभी कवियों के पदों में उसे शीर्षस्थान ही मिलता रहा।

इस छन्दक के अतिरिक्त पद्य और पद में छन्दोदृष्टि से कोई खास अन्तर नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से पद को हम अनुच्छेद, पद-बंध (स्टेंजा) कह सकते हैं, जिसका निर्माण कवि एक या अनेक छन्दों के मिश्रित प्रयोग-द्वारा करता है। साथ ही जिसमें कवि अपने भावानुसार चाहे जितनी पंक्तियाँ रख सकता है। विद्यापति के समस्त पद किसी न किसी छन्द में निबद्ध हैं। अवश्य इन पदों का पाठ खड़ीबोली की उच्चारण-पद्धति में न कर कहीं कहीं अपभ्रंश-ब्रजभाषा आदि की दीर्घ का ह्रस्वोच्चारण करने वाली प्रणाली में करना पड़ेगा, तभी इसकी वास्तविक लय का पता लगेगा और हम यह कह सकने में समर्थ होंगे कि अमुक पद की रचना अमुक छन्द में हुई है। मैथिली में गुरु के ह्रस्वोच्चारण की छूट ब्रजभाषा की अपेक्षा कहीं अधिक है, पदावली के पद-पाठ१४ से इस सत्य को हम सहज ही हृदयंगम कर सकते हैं। जैसे—

जमुनाक तिर उपबन उद्वेगल
फिरि फिरि ततहि निहार।
तोंहि मतिमान, सुमति मधुसूदन
वचन सुनह किछु मोरा।
भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
वन्दह नन्द-किसोरा। —पद १

१३, देखिये कविता कौमुदी, सातवाँ भाग पं० कृपानाथ मिश्र, पद १, २।
१४, पद का क्रमांक बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति की पदावली' के अनुसार है।

ऊपर की पंक्तियों में छन्द-रक्षा के लिये 'जमुना क' को 'जमुनक' तोहें को 'तंह' और विद्यापति को 'विघापति' पढ़ना आवश्यक है। तभी ये सरसी और सार की निर्दोष पंक्तियाँ कही जा सकती हैं।

आचार्यों ने छन्दों के दो भेद किये हैं। (क) वर्णिक और (ख) मात्रिक। विद्यापति ने पदावली में किसी वर्णिक छन्द का प्रयोग नहीं किया है। दोहा जैसे अर्द्धसम तथा रड्डा-गाथा आदि जैसे विषम छन्दों का प्रयोग भी पदावली में नहीं मिलता। सभी पद मात्रिक सम छन्द में लिखे गये हैं। अनेक पदों की रचना आद्योपांत एक ही छन्द में हुई है। अनेक पद ऐसे भी हैं, जिनका निर्माण दो-तीन या उससे भी अधिक छन्दों के चरणों के मेल से किया गया है। इस प्रकार पदावली में सम और मिश्र छन्द का प्रयोग कवि ने भावों के अनुसार किया है। ऐसे मिश्रण में कहीं-कहीं रचना-सौविध्य, कवि प्रयत्न-शैथिल्य अथवा शब्द संकट भी देखा जा सकता है। पद १ के प्रारम्भ में छन्दक-सहित पाँच पंक्तियाँ सरसी की हैं और अन्त में दो पंक्तियाँ सार की। जैसे—

> तोहें मतिमान, सुमति मधुसूदन
>
> वचन सुनह किछु मोरा
>
> भनइ विद्यापति सुनु वर जौवति
>
> बन्दह नन्द किसोरा।

यहाँ कवि 'मोरा और किसोरा' की जगह 'मोर' और किसोर रख कर सहज ही इन्हें सरसी की पंक्तियाँ बना दे सकता था, किन्तु द्विगुवन्त पादों के द्वारा अपनी बात जिस प्रकार युवती के ऊपर उड़ेल दी गई है, वह सरसी के गलात्मक अंत द्वारा संभव नहीं थी। इसी लिये कवि ने ये दोनों पंक्तियाँ सार की रक्खीं। इसी प्रकार मनोरम की दो पंक्तियाँ और रजनी की एक पंक्ति के मेल से पद २३० और २५८ में जिस पद-बंध का निर्माण किया गया है, वह कवि के सचेतन प्रयास का परिणाम माना जा सकता है। उदाहरण स्वरूप हम निम्न पद-बंध को ले सकते हैं—

> कनक भूधर शिखर वासिनि,
>
> चंद्रिका चय चारु हासिनि,
>
> दशन कोटि विकास, बंकिम
>
> तुलित चन्द्र कले। —पद २३०

कवि प्रयत्न शैथिल्य, रचना सौविध्य अथवा शब्द संकट के परिणाम-रूप में गीता रूपमाला (पद ३७) गीतिका हरिगीतिका (पद १४१) सरसी वीर (पद ११९) आदि के मिश्रित

प्रयोग किये जा सकते हैं। पद ३७ में रूपमाला को ८ पंक्तियों के साथ गीता की दो पंक्तियाँ, पद १४१ में गीतिका की आठ पंक्तियों के साथ हरिगीतिका की दो पंक्तियाँ तथा पद ११९ में सरसी-सार की पंक्तियों के साथ वीर छन्द की एक पंक्ति यह स्पष्ट घोषित करती हैं कि ये पंक्तियाँ एक ही लयाधार होने के कारण कवि की लेखनी से अनायास निःसृत हो गई हैं। इन पंक्तियों के प्रयोग में कवि की दृष्टि भाव पर नहीं, रचना-सौविध्य पर ही है। समान लयाधार पर चलने वाले छन्दों का मिश्रण तो आसानी से हो जाता है, पर छन्द प्रयोग में कुशल कवि कभी कभी ऐसे दो छन्दों का भी मिश्रण कर देता है, जो एक लयाधार पर चलने वाले नहीं होते। सूर तुलसी में ऐसे कई प्रागाथिक प्रयोग मिलते हैं। विद्यापति ने भी एक पद में चौपई की अर्द्धाली के बाद हरिगीतिका की अर्द्धाली को रख कर एक नूतन प्रगाथ की सृष्टि की है। यथा—

आएल उन्मद समय वसन्त।
दारुन मदन निदारुन कन्त।
ऋतुराज आज विराज हे सखि
नागरी जन वंदिते।
नव रंग नव दल देखि उपवन
सहज सोभित कुसुमिते। पद २१५

सूर और तुलसी ने ऐसे विषम लयात्मक छन्दों के मिश्रण में चौपाई आदि की अन्तिम पंक्ति के शब्द और भाव की आवृत्ति हरिगीतिका के प्रारम्भ में की है। विद्यापति ने ऐसा नहीं किया है।

विद्यापति ने पदावली में अहीर लीला महानुभाव, चण्डिका (उल्लाला) हाकलि, चौपई चौबोला, चौपाई पद्धरि, सुखदा, उल्लाल, रूपमाला, नाग सरसी, सार, मरहठा माधवी तथा झूलना १७ छन्दों का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से किया है। नीचे सभी छन्दों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं -

अहीर छन्द—इस समप्रवाही छन्द में ११ मात्राएँ होती हैं। यह दोहे का सम चरण है। पदावली में इस छन्द में निबद्ध एक पद है। यथा—

मधुर जुवति जन संग।
मधुर मधुर सब रंग।
मधुर मृदंग रसाल।
मधुर मधुर करताल।—पद १८३

लीला छन्द—षट्काधारित इस छन्द में १२ मात्राएँ होती हैं। विद्यापति ने इस छन्द में दो पदों (पद ९२, १२७) की रचना की है। यथा—

सुरँग अधर विरँग मेलि।
का हँय कामिनि कएल केलि।
सघन जघन काँपए तोर।
मदन मथन कएल जोर।—पद ९२

महानुभाव—इस समप्रवाही छन्द में १२ मात्राएँ होती हैं। यह सार छन्द का उत्तरांश है। इस छन्द में २ पद (५८, ६१) निबद्ध हैं। यथा—

करतिहु पर-उपहासे।
परिलिहुँ तन्हि विधि फाँसे।
नहि आसे लो।—पद ६१

इस पद की प्रत्येक अर्द्धाली के बाद छन्दक-रूप में ८ मात्राओं की एक पक्ति जोड़ी गई है, जो अखड छन्द है और जिसकी तुक 'लो' के पूर्व दो पक्तियों से मिली हुई है। इसी प्रकार पद ५८ की प्रत्येक अर्द्धाली के बाद 'कन्हैया' शब्द जोड़ा गया है। जैसे—

विद्यापति एहो भाने।
गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया।—पद ५८

चण्डिका—इस समप्रवाही छन्द में १३ मात्राएँ होती हैं। पदावली के एक पद की रचना इस छन्द मे हुई है। जैसे—

एकहि पलँग पर कान रे,
मोर लेख दुर देस भान रे,
जाहि वन के ओ नहि डोल रे
ताहि वन पिया हँसी बोल रे। —पद १५६

हाकलि—इस समप्रवाही छन्द में १४ मात्राएँ होती हैं। हाकलि-निबद्ध एक ही पद पदावली में पाया जाता है। जैसे—

सुंदरि चललिहु पहु-घर ना।
चहुँ दिस सखि सब कर धर ना।
जाइतहु लागु परम डर ना।
जइसे ससि काँप राहु डर ना।—पद ७२

चौपई—इस समप्रवाही छन्द में १५ मात्राएँ होती हैं। चौपाई के अंतिम दीर्घ को लघु कर देने से यह छन्द बन जाता है। पदावली में इस छन्द में रचित पदों की संख्या ५४ है। जैसे—

सैसव-जोवन दरसन भेल।
दुहु दल-बले द्वन्द परि गेल।
कबहुँ बाँधय कच कबहुँ विथारि।
कबहुँ झाँपय अँग कबहुँ उघारि।—पद ५

चौबोला—इस समप्रवाही छन्द में १५ मात्राएँ होती हैं। चौपई के अन्त्य ऽ। की जगह। ऽ कर देने से यह छन्द बन जाता है। पदावली का २४० वाँ पद इसी छन्द में निबद्ध है। जैसे—

जखन देखल हर हो गुननिधी।
पुरल सकल मनोरथ सब विधी।
बसहा चढ़ल हर हो बूढ़ यती।
काने कुंडल सोभे गले गजमोती।—२४०

चौपाई—इस समप्रवाही छन्द मे १६ मात्राएँ होती हैं। पदावली के ६ पदों (४२, १०४, १६७, २१०, २३८, २५०) की रचना चौपाई में हुई है। जंसे—

द्विज पिक लेखक मसि मकरंदा।
काँप भमर-पद साखी चंदा।
वहि रति रंग लिखापन माने।
श्री सिवसिंघ सरस कवि भाने।—पद १०४

पद्धरि—इस छन्द में १६ मात्राएँ तथा अंत में ऽ। होता है। इसका प्रारंभ द्विकल और अंत षटकल से होता है। द्विकल के बाद विषम (त्रिकल) आने से विषम रख कर इसे समप्रवाही बनाना होता है। पदावली में इस छन्द के दो पद (१७८, १८२) हैं। जैसे—

जहाँ चंदा निरमल भमरकार।
जहाँ रयनि उजागर दिन अंधार।
जहाँ मुगुधलि माननि करए मान।
परिपंथहि पेखए पंचवान।—पद १८२

सुखदा—इस समप्रवाही छन्द में २२ मात्राएँ होती हैं। १२-१० पर यति होती है। पदावली का एक पद इस छन्द में निबद्ध है। जैसे—

लोचन धाइ फेधायल
हरि नहि आयल रे।
सिव सिव जिवओ न जाए
आस अरुझाएल रे।—पद १९३

उल्लास—इस समप्रवाही छन्द में २२ मात्राएँ होती हैं। रोला की अंतिम दो मात्राओं को हटा देने से यह छ द बन जाता है। शास्त्रों में इस प्रकार का कोई छन्द उपलब्ध नहीं है। सूरसागर में भी ऐसा छन्द मिलता है। इसका नाम मैंने उल्लास रक्खा है। पदावली का एक पद इस छन्द में निबद्ध है। जैसे --

आजु नाथ एक वर्त्त मोहि सुख लागत हे।
तोहें सिव धरि नट वेष कि डमरु वजाअत हे—पद २४५

रूपमाला—समकाधारित इस छन्द में २४ मात्राएँ, १४-१० पर यति और अंत में ऽ। होता है। रूपमाला के पाँच पद (२१, ३२, ५६, ११४, २००) पदावली में मिलते हैं। जैसे—

गेलि कामिनि गजहु गामिनि
विहँसि पलटि निहारि।
इन्द्रजालक कुसुम सायक
कुहुकि भेल वर नारि।—पद ३२

नाग—इस समप्रवाही छन्द में १४-११ पर यति देकर २५ मात्राएँ होती हैं और अंत में ऽ। रहता है। भानु ने नाग में १०-८ ७ पर यति मानी है। किंतु तीन यति वाला २५ मात्रापादी छ द संपूर्ण हिन्दी साहित्य में कहीं उपलब्ध नहीं होता। अत १४-११ वाले इस समप्रवाही छन्द को नाग मान लेना चाहिये। पदावली के एक पद की रचना नाग छन्द में हुई। जैसे --

सून सेज हिय सालए रे
पिया बिनु घर मोयँ आजि।
बिनति करओं सहलोलनि रे
मोहि देह अगिहर साजि।—पद १८९

सरसी—इस समप्रवाही छन्द में १६-११ पर यति देकर २७ मात्राएँ होती हैं। अंत में ऽ। का रहना आचार्यों ने अनिवार्य माना है। विद्यापति ने ३० पदों की रचना सरसी छन्द में की है। जैसे—

जाइत देखलि पथ नागरि सजनि गे
आगरि सुबुधि सेयानि।
कनकलता सनि सुन्दर सजनि गे
विहि, निरमाओल आनि। —पद १६

सार—इस समप्रवाही छन्द में १६-१२ पर यति देकर २८ मात्राएँ होती हैं। सार में पदावली के ३० पद निबद्ध हैं—

जोवन रूप ताबे धरि छाजल
जाबे मदन अधिकारो।
दिन दस गेले सखि सेहओ पराइत
सकल जगत परिचारी।—पद ७०

मरहठा माधवी—इस समप्रवाही छन्द में १६-१३ पर यति देकर २९ मात्राएं होती हैं। अंत में। ऽ रहता है। पदावली मरहठा माधवी के दो पद (१३, २२२) मिलते हैं—

जुगल सैल सिम हिमकर देखत
एक कमल दुइ जोति रे।
फुललि मधुरि फुल सिंदुर लुटाएल
पाँति बइसलि गज मोति रे।—पद १३

झूलना—पंचकाधारित इस छन्द में १०-१०-१०-७ पर यति देकर मात्राएँ होती हैं। पदावली का केवल एक पद इस छन्द में निबद्ध हैं—

खनहि खन महँघि मइ किछु अरुन नयन कइ
कपटि धरि मान सम्मान लेही।
कनक जयँ प्रेम कसि पुनु पलटि बाँक हसि
आधि सयँ अधर मधु-पान देही।—पद १३२

इन स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त छन्दों के अतिरिक्त पदावली में अखण्ड, निधि, दीप, शशिवदना, मनोरम, कज्जल, विजात, रजनी, गीता, गीतिका, विष्णुपद, हरिगीतिका, ताटंक, वीरछन्द तथा समान सवैया ये १५ छन्द ऐसे भी पाये जाते हैं, जिनके चरणों का मिश्रण किसी भिन्न छन्द या छन्दों के साथ हुआ है। नीचे प्रत्येक छन्द के लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं।

अखण्ड—इस समप्रवाही छन्द में ८ मात्राएँ होती हैं। इसका निर्माण दो चौकलों, पंचक-त्रिकल अथवा दो त्रिकल + एक द्विकल से होता है।१५ पदावली के एक पद में इस छन्द की दो पंक्तियाँ प्रयुक्त हैं—

मलय पवन बह।
बसंत विजय कह।—पद १८६

निधि—इस छन्द में ९ मात्राएँ होती हैं और अंत में लघु रहता है। पद १८६ में इसकी चार पंक्तियाँ पाई जाती हैं, जिनके मध्य क्रमश दो पंक्तियाँ शशिवदना की, दो पंक्तियाँ दीप की और फिर दो पंक्तियाँ शशिवदना की हैं—

भमर करइ रोर। परिमल नहि ओर।
विहरि विपद लागि। केसु उपजल आगि। ('के' का लघूच्चारण)

दीप—पचकाधारित इस छन्द में १० मात्राएँ होती हैं, अंत में ऽ। रहता है। पदावली के पद १८६ में इसको केवल एक अर्द्धाली का प्रयोग हुआ है। जैसे—

अनग मंगल मेलि। कामिनि करय् केलि।

शशिवदना—इस दशमात्रिक समप्रवाही छन्द का पद १८६ में दीप के ऊपर-नीचे एक-एक अर्द्धाली का प्रयोग हुआ है—

रिपुपनि रंग देला। हृदय रभस भेला।
तरुन तरुनि संगे। रयनि खेपवि रंगे।

इसी पद के अंत में चार पंक्तियाँ अहीर छन्द की हैं। इस प्रकार यह पद अखंड, निधि, दीप, शशिवदना और अहीर के चरणों के योग से बना है। इनमें दीप पचकाधारित है और सभी समप्रवाही हैं, किंतु विद्यापति ने समात्मक छन्दों के साथ दीप का गुम्फन कुशलता के साथ कर दिया है।

मनोरम—इस सप्तकाधारित छन्द में १४ मात्राएँ होती हैं। पदावली में इसका प्रयोग तीन पदों में हुआ है। पद २३० और २५८ में रजनी के साथ इसकी एक-एक अर्द्धाली और पद ११७ में लीला, चौपई तथा चौपाई के साथ इसकी चार पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। जैसे—

चरण नूपुर उपर सारी।
मुखर मेखल कर निहारी।

१५. देखिये—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना—डा० पुत्तूलाल शुक्र, पृ० २४४

अम्बर सामर देह झपाई ।
चलहु तिमिर पथ समाई ।—पद ११७

कज्जल और विजात—इन दोनों छन्दों के प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ होनी हैं। कज्जल का निर्माण पद्धरि के प्रारंभिक द्विकल को हटा देने से होता है और विजात। ऽ ऽ ऽ वाले सप्तक की दो आवृत्तियों से बनता है। पद १७३ में चौपई और लीला के साथ कज्जल की ६ और विजात की चार पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं। जैसे—

विजात— दुहुक संजुत चिकुर फूजल।
दुहुक दुहू बलाबल झूल।
दुहुक अधर दसन लागल।
दुहुक मदन चौगल जागल।
कज्जल— दुअओ अधर करए पान।
दुहुक कंठ आलिंगन दान।
दुअओ केलि सँय सँय भेलि।
सुरत सुखे विभावरि गेलि।

अवश्य इन पंक्तियों में थोड़ी अस्तव्यस्तता है, पर पंक्तियाँ विजात और कज्जल की हैं, इसमें सन्देह नहीं।

रजनी—सप्तकाधारित इस छन्द में १०-९ पर यति देकर २३ मात्राएँ होती हैं। रूपमाला के अंतिम लघु को हटा देने से यह छन्द बन जाता है। रजनी का प्रयोग पदावली में रूपमाला (पद १११, १४२) तथा मनोरम (२३०, २५८) के साथ हुआ है।

दमन कालो कएल जे जन
चरन जुगल वरे।
अब भुजगम भरम भूलल
हृदय हार न धरे।—पद १४२

गीता—सप्तकाधारित इस छन्द में १६-१० पर यति देकर २६ मात्राएँ होती हैं। हरिगीतिका की अंतिम दो मात्राओं को हटा देने से यह छन्द बन जाता है। पदावली में एक पद की दो पंक्तियों में रूपमाला के साथ इसका प्रयोग हुआ है। जैसे—

की लागि कौतुक देखलौं सखि
निमिष लोचन आध।

गोरस विरस वासी विसेखल
छिकहु छाड़ल गेह ।—पद ३७

गीतिका—सप्तकाधारित इस छन्द में १४-१२ पर यति देकर २६ मात्राएँ होती हैं। अंत में । ऽ रहना है। हरिगीतिका की प्रारम्भिक दो मात्राओं को हटा देने से गीतिका का निर्माण हो जाता है। पदावली में गीतिका का प्रयोग तीन पदों में हुआ है। पद ११२ में रूपमाला के पहले दो पंक्तियाँ तथा पद १९९ में रूपमाला की एक पंक्ति के बाद ६ पंक्तियाँ गीतिका की प्रयुक्त हुई हैं। पद १४१ गीतिका में निबद्ध है, किंतु दो जगह २ पंक्तियाँ हरिगीतिका की समाविष्ट हो गई हैं। गीतिका का उदाहरण—

विरह व्याकुल बकुल तरुतर
पेखल नन्द कुमार रे।
नील नीरज नयन सयँ सखि
ढरइ नीर अपार रे।—पद १४१

ये सभी सप्तकाधारित छन्द एक ही लय पर चलते हैं। दो-एक मात्राओं का न्यूनाधिक्य ही इन्हें पृथक् अस्तित्व प्रदान करता है। अतः एक छन्द के अन्तर्गत अन्य छन्द की छिटपुट दो-एक पंक्तियों का आ जाना कवि के सचेतन प्रयास का परिणाम नहीं माना जा सकता। रचना सौविध्य अथवा शब्द-संकट के फलस्वरूप ही ऐसी पंक्तियाँ समाविष्ट हो गई हैं।

विष्णुपद—इस समप्रवाही छन्द मे १६-१० पर यति देकर २६ मात्राएं होती हैं। सार की अंतिम दो मात्राओं को हटा देने से यह छन्द बन जाता है। पदावली के पद ११५ की प्रारम्भिक दो पंक्तियाँ किसी प्रकार विष्णुपद की मानी जा सकती हैं। यों ये दोनों पंक्तियाँ काफी अस्तव्यस्त हैं।

प्रथम जउवन नव गरुअ मनोभव।
छोटि मधुमास रजनि।
जागे गुरुजन नेह राखए चाह नेह
संसअ पड़ल सजनि।—पद ११५

हरिगीतिका—सप्तकाधारित इस छन्द में १६-१२ पर यति देकर २८ मात्राएँ होती हैं। अंत में । ऽ रहना है। पदावली में इसका प्रयोग एक पद में गीतिका के साथ और दूसरे में चौपई के साथ हुआ है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है।

ताटंक—इस समप्रवाही छन्द में १६ १४ पर यति देकर ३० मात्राएँ होती हैं। पदावली के तीन पदों में इसका प्रयोग हुआ है। पद २०१ ताटंक में निबद्ध है। केवल अंतिम दो

पंक्तियाँ मरहठा माधवी की हैं। पद २५१ में प्रारंभिक दो पंक्तियाँ ताटंक की हैं, शेष सार की और पद १७४ में मार और ताटंक की मिली-जुली पंक्तियों का प्रयोग हुआ है। ताटक का उदाहरण—

कुटल कुसुम नव कुंज कुटिर वन
कोकिल पंचम गावे रे।
मलयानिल हिमसिखर सिधारल
पिया निज देश न आवे रे। पद २०१

वीर छन्द—इस समप्रवाही छन्द में १६-१५ पर यति देकर ३१ मात्राएँ होती हैं। अंत में ऽ। रहना है। पदावली के दो पदों में इसका प्रयोग हुआ है। पद ११९ का निर्माण सरसी, सार तथा वीर छन्द के योग से हुआ है। जिसमें वीर छन्द की केवल एक प्रारम्भिक पंक्ति है। एक पद १८४ मुख्यत वीर छन्द में निबद्ध है, पर इसमें एक पंक्ति समान सवैये की और एक सरसी की भी समाविष्ट हैं। वीर का उदाहरण—

स्रम भर गलित लुलित कबरीयुत
मालति माल विथारल मोति।
समय वसत रास-रस वर्णन
विद्यापति मति छोभित होति।—पद १८४

समान सवैया—इस समप्रवाही छन्द में १६-१५ पर यति देकर ३२ मात्राएँ होती हैं यह चौपाई का द्विगुणित रूप है। पदावली के पद १८४ में समान सवैये की एक पंक्ति है और पद २३६ में सार और समान सवैये की मिला-जुली पंक्तियों का प्रयोग हुआ है। सार के अंत में ४ मात्राएँ जोड़ देने से समान सवैया बन जाता है। अत समान सवैये के ऐसे प्रयोग में कवि का सचेतन प्रयास नहीं देख कर रचना सौविध्य मानना ही युक्तिसंगत है। समान सवैये का उदाहरण—

बन-बन फिरथि मसान जगावथि
घर आँगन क बनौलनि कहिआ।
सासु ससुर नहि ननद जेठौनी
जाए बैसति धिया केकरा ठहिया। पद २३६

इन ३२ प्रकार के छन्दों में नाग, विजात, उल्लास, रजनी और गीता ऐसे छन्द हैं, जिनका प्रयोग विद्यापति से पूर्व नहीं मिलता। अत: इन छन्दों के निर्माण का श्रेय विद्यापति को दिया जा सकता है। इन छन्दों के अतिरिक्त विद्यापति में १४-९ और १४-१० के दो और छन्द मिलते हैं। जैसे :—

(क) विपत अपत तरु पाओल रे
पुन नव नव पात।
विरहिन नयन बिहिल विहि रे
अविरल बरसात। पद २०७

(ख) चानन भेल विषम सर रे
भूषन भेल भारी।
सपनेहुँ हरि नहि आएल रे
गोकुल गिरिधारी। पद २०६

इस प्रकार के छन्द शास्त्रों में उपलब्ध नहीं। भानु के यहाँ १४-९ अंत ऽ। का एक सुजान छन्द है, पर वह त्रिकल के आधार पर (प्रारंभिक एक द्विकल के बाद) चलता है, और विद्यापति का पद्य समप्रवाही है। १४-१० के दो छन्द भानु के यहाँ मिलते हैं—रूपमाला और शोभन। इनकी गति से विद्यापति के उक्त पद का कोई साम्य नहीं। लय-भिन्नता के कारण इने हम रोला भी नहीं कह सकते। अवश्य ये दोनो छन्द भी विद्यापति के निर्माण हैं, जिनका नामकरण आजतक नहीं हुआ। इस प्रकार सब मिला कर विद्यापति के काव्य में ६५ छन्दों का प्रयोग हुआ है।

पदावली में विद्यापति मुख्य रूप से गीतकार हैं। इसीलिए अपने गेय पदों को अतिरिक्त सांगीतिकता प्रदान करने के लिये उन्होंने सार-सरसी आदि छन्दों में निबद्ध कई पदों में आभ्यंतर तुक की योजना कर 'धीर समीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली' की परपरा को आगे बढ़ाया है। यह परपरा निराला के अनेक गीतों में अब भी सुरक्षित है। सार-सरसी के कुछ पदों के प्रत्येक चरण के बाद 'गे माई' की आवृत्ति तथा कुछ पदों के चरणों के पूर्वार्द्ध के अंत में 'रे' की योजना-द्वारा भी अतिरिक्त सांगीतिकता लाने का प्रयास किया गया है। जैसे :—

एक त बइरि भेल वीध विधाता
दोसर धिया कर बाप।

तेसरे बहरि भेल नारद बामन
जे बूढ़ आनल जमाई, गे माई। पद

पूर्वार्द्ध के अंत में 'रे' की योजना वाले पद ऊपर उद्धृत किये गये हैं।

विद्यापति गीत-कवि थे। यही कारण है कि छोटे छन्दों की ओर उन्होंने विशेष रुचि दिखलाई है। लंबे छन्दों का प्रयोग उन्होंने बहुत कम किया है। दण्डक (झूलना) का प्रयोग तो केवल एक पद में हुआ है। ताटक, वीर, समान सवैये के तो दो-चार चरण ही मिलते हैं। लंबे छन्दों में सार-सरसी को ही ले सकते हैं, जिनकी संख्या पदावली में अपेक्षाकृत अधिक है। विद्यापति ने सार, सरसी, चौपाई और चौपई छन्दों का प्रयोग प्रचुर परिमाण में किया है। सार और सरसी का प्रयोग ३०-३० पदों में स्वतंत्र रूप से और सार-सरसी का मिश्रित प्रयोग ४१ पदों में हुआ है। इसी प्रकार चौपई-चौपाई का मिश्रित प्रयोग ३६ पदों में पाया जाता है। किंतु पदावली में सर्वाधिक पद चौपई छन्द के हैं, जिनकी संख्या ५४ है। विद्यापति ने इस छोटे छन्द में अपने शृंगारिक भावों की सफल अभिव्यक्ति की है। छोटे छोटे गीतों का सफल वाहक बन कर यह विद्यापति का प्रिय छंद बन बैठा।

बौद्ध-दर्शन में आत्मवाद्

छोटेलाल त्रिपाठी

आत्मन् , ईश्वर और जगत् अनादिकाल से तत्वज्ञानियों के मन को आन्दोलित करते रहे हैं। कुछ तत्वज्ञानियों ने इन विषयों के अस्तित्व विभुत्व, और अनन्तत्व को सिद्ध करने में अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया और गंभीर एवं युक्तिसगत तर्कों द्वारा इनकी सत्ता को स्थापित किया। किन्तु कुछ दूसरे तत्वज्ञानियों ने इन विषयों के अस्तित्व का खण्डन करने में भी वैसी ही विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया जो इन विषयो की सत्ता को स्थापित करने में प्रदर्शित की गई थी। भगवान् बुद्ध ने इन विषयों को 'अव्याकृत' घोषित करते हुए इनके अस्तित्व और नास्तित्व पर मौन रहना ही उचित समझा। उन्होंने अपने शिष्यों को बताया कि ये ऐसे प्रश्न हैं जिनके समर्थन और खण्डन में समान रूप से तर्क दिए जा सकते हैं। अत इन प्रश्नों पर चर्चा चलाना समय का दुरुपयोग है। उन्होंने कहा कि मानव का सबसे बड़ा शत्रु 'दुःख' है जिससे मानव मात्र पीड़ित है और जिसके अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इस दुख का निरोध आवश्यक है जो इन प्रश्नों पर बिना चर्चा चलाए भी संभव है।

भगवान् बुद्ध के प्राचीन अनुयायियों ने उनके इस मौन का अर्थ 'आत्मा' के नास्तित्व का द्योतक समझा। उन्होंने स्पष्ट रूप से (categorically) यह घोषित किया कि आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो लोग 'आत्मा' के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उन्हें संसार सागर में बार-बार गोता लगाना पड़ेगा और वे निर्वाण की प्राप्ति कर सकेंगे। किन्तु यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली। बुद्ध की अज्ञेयवादी शिक्षा से लोगों को मानसिक तुष्टि नहीं मिल सकी। अत बुद्ध के अनुयायियों ने एक ओर तो बुद्धवचन के प्रति श्रद्धा और आदर प्रदर्शित करने के लिए यह घोषित किया कि आत्मा या अहम् जैसी कोई वस्तु नहीं। किन्तु दूसरी ओर उन्होंने यह भी घोषित किया कि एक 'महात्मन्' (higher self) या निर्पेक्ष सत्ता है जो इस दृश्य प्रपंच का आधार है। बुद्ध ने आत्मा या 'अहम्' की सत्ता का खण्डन किया है न कि 'महात्मन्' या निर्पेक्ष सत्ता का।[1] विज्ञप्तिमात्रता या चित्रमात्र' इसी महात्मन् का पर्याय है। समस्त विज्ञान जो बाह्य जगत् के अस्तित्व का भ्रम उत्पन्न करते हैं, इसी विज्ञप्तिमात्रता में अधिष्ठित हैं। लङ्कावतार सूत्र में इस विज्ञप्तिमात्रता या चित्तमात्र का बड़ा ही विशद और रोचक वर्णन किया गया है। लङ्कावतार सूत्र के अनुसार

---

१. स्टडीज इन द लङ्कावतार · पृ० २६४

विशुद्धि लक्षण आत्मन् अनुभूति का विषय है। यह तथागतगर्भ है। इन्द्रियां और बुद्धि इसकी कल्पना नहीं कर सकतीं।२ यह प्रभास्वर आत्मन् आगन्तुक मल और क्लेशों द्वारा आच्छादित है और अपने वास्तविक रूप में गोचर नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार एक मलिन वस्त्र को स्वच्छ किया जाता है उसी प्रकार क्लेशों से संक्लिष्ट आत्मा को भी परिशुद्ध किया जा सकता है।३ यह आत्मा हमारे पंचस्कन्ध में विद्यमान है यद्यपि हम इसे देख नहीं पाते।४ जो लोग आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उन्हें बोधिसत्व की भूमियों, लोकोत्तर अभिषेक, विशिष्ट समाधि और निर्वाण को भी अस्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए जिनकी प्राप्ति के लिए वे लालायित हैं। क्योंकि आत्मा के अस्तित्व पर ही इनका अस्तित्व सम्भव है, इनके अभाव में नहीं। आत्मा के अस्तित्व के विषय मे उच्छेदवादी (nihilist) के प्रश्न की आशंका करते हुए लङ्कावतार सूत्र कहता है कि इस आत्मा को जगत् के विषयों आम या जामुन के फूल की भांति हाथ पर रख कर दिखाया नहीं जा सकता। किन्तु फिर भी इसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह समस्त वस्तुओं का आधार है। दृश्य प्रपंच का समस्त खण्डन-मण्डन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। जो सिद्धान्त समस्त दृश्य प्रपंच का आधार हो उसी का अस्वीकरण वदतोव्याघात है। अत जो भिक्षु 'आत्मा' के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, उन्हें भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार के सदसत्पक्ष के दृष्टिकोणवाले लोग बुद्ध धर्म के विनाशक हैं जब कि यह विज्ञप्तिमात्रता बौद्धमत विरोधी तीर्थकों के अवगुणों से मुक्त है।५

डा० सुजुकी के अनुसार लङ्कावतार सूत्र की इन पंक्तियों को बहुत सावधानी से समझने की आवश्यकता है, क्योंकि ये उस 'आत्मा' के अस्तित्व को प्रदर्शित करती हुई प्रतीत होती हैं, जिसको हीनयान और महायान दोनों ने अस्वीकार किया है। किन्तु 'आत्मा' के अस्तित्व के विपक्ष में इस प्रकार पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण रखना लङ्कावतार सूत्र की पंक्तियों का स्पष्ट रूप से अनर्थ करना है। हमें यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए कि बौद्ध दर्शन के समस्त इतिहास में 'आत्म धारा' अजस्ररूप से प्रवाहित होती रही है। नाम भले ही बदला हो किन्तु तत्व एक-सा ही रहा है। इसे सदव प्रकृति प्रभास्वर शाश्वत, सर्वत्र व्याप्त और समस्त प्रपंच

---

२. लङ्कावतार गाथा ७४७
३. ,, ,, ७५५
४. ,, ,, ७६२-६२
५. लङ्कावतार गाथा ७६४-७६६

के अधिष्ठान के रूप में माना गया है। लङ्कावतारसूत्र का चित्त, चित्तमात्र, तथागतगर्भ या आलय, असंग का 'महात्मन' और वसुबंधु की 'विज्ञप्तिमात्रता' इस बात का पुष्टीकरण करती है। लङ्कावतार सूत्र 'आत्मन्' का वर्णन करते हुए कहता है कि यह अमल और आत्मानुभूति-योग्य है। यही तथागतगर्भ है जो दार्शनिकों की दृष्टि के परे है। लङ्कावतार सूत्र में चित्त का वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो हम उपनिषदों में आत्मा या ब्रह्म के विषय में पढ़ रहे हैं। लङ्कावतारसूत्र फिर कहता है कि यह चित्र प्रकृति प्रभास्वर है। यह वासना से न तो पृथक् है और न सवलित ही है। यद्यपि यह वासना से परिवेष्ठित है, किन्तु फिर भी उसके गुण और दोषों से प्रभावित नहीं होता।६ लङ्कावतारसूत्र के प्रणेता को चित्त और औपनिषदीय आत्मा के वर्णन में कुछ भी अन्तर नहीं प्रतीत होता। इसलिए वह दोनों में भेद समझने का प्रयत्न करता है। लङ्कावतारसूत्र में महामति भगवान् बुद्ध से पूछता है कि भगवान्! आप के अनुसार चित्त प्रकृति प्रभास्वर और विशुद्धातिविशुद्ध वर्णित किया गया है। आप इसे सर्वदेहान्तर्गत, नित्य ध्रुव, शिव और शाश्वत मानते हैं। आत्मा के अस्तित्व में निष्ठा रखनेवाले तीर्थकजन भी इसे नित्य, कर्ता निर्गुण, विभु और अव्यय मानते हैं। फिर आप के चित्त और तीर्थकों के आत्मा मे अन्तर क्या है जो आप चित्त की महत्ता का उपदेश देते हैं और आत्मवाद का खण्डन करते हैं। बुद्ध ने महामति को दोनों के बीच अन्तर समझाते हुए कहा कि महामति! चित्त या परमार्थ अनुभूति का विषय है। यह तर्क की कोटियों के परे है। आर्य ज्ञान ही इसकी प्राप्ति कर सकता है न कि वाणी और तर्क।७ किन्तु आत्मा के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। उपनिषदों के अध्ययन से हम यह बात अच्छी तरह जान सकते हैं कि आत्मा के विषय में भी यही बात कही जा सकती है क्योंकि वहाँ भी आत्मा अवाङ्मनसगोचर है। वह मन और वाणी से परे है। मन उसकी कल्पना नहीं कर सकता, प्रत्युत् बिना उसके मन का ही अस्तित्व असमव है।८ वस्तुत डा० सुजुकी का यह संप्रेक्षण (observation) बहुत ही प्रामाणिक है कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर विचार करने पर हम यह पाएगे कि अहम् प्रत्यय (ego idea) और आलय विज्ञान (चित्र) के विकास में पर्याप्त निकटवर्ती सम्बन्ध रहा है। सन्धि निर्मोचन सूत्र भी इस बात को पुष्टि करता है। सन्धिनिर्मोचन सूत्र के अनुसार आलय

---

६. लङ्कावतार सूत्र २३६

७. लङ्कावतार सूत्र पृ० ८७

८. यन्मनसा न मनुते येनाहुमर्नोमतम्

विज्ञान गंभीर और सूक्ष्म है और आत्मा से इतना अधिक मिलता-जुलता है कि मूढ लोग इसे आत्मा ही समझ बैठते हैं।९

सूत्र साहित्य से योगाचार साहित्य में प्रवेश करने पर हमें एक नूतन जगत् का दर्शन होता है। हम यहाँ आत्मन् या महात्मन् का एक विशद वर्णन पाते हैं। योगाचारमत के प्रतिष्ठापक आर्य असग आत्मतत्व की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि 'आत्मतत्व न तो कोई स्वतन्त्र सत्ता है और न परतन्त्र किन्तु भ्रममात्र है।१०

जगत् में आत्मा नाम की कोई नित्य वस्तु नहीं जो समस्त विषयों का अधिष्ठान हो। सभी विषय प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। ये कारण कार्य सिद्धान्त पर आधारित हैं। लोग अज्ञानवश यह जानने के लिए सचेष्ट रहते हैं कि वस्तुएं सत् हैं या असत्।११ किन्तु आगे चल कर असग के महात्मन् के वर्णन को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने जिस 'आत्मतत्व' का खण्डन किया है वह 'इन्द्रियानुभविक अहम्' है जो 'मै और मेरा' की भावना का उद्बोधक है न कि परमात्मन् या ब्रह्मन् जो सागर के समान विस्तृत और अगम्य है और यहां जीवात्माएं नदियों की भांति आकर विलीन हो जाती हैं। धर्मधातु के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है मानो हम उपनिषदों में आत्मा का वर्णन पढ़ रहे हैं। असग कहते हैं कि धर्मधातु उस महोदधि के समान है जिसे असख्य नदियां अपने सतत प्रवाहित जल धार से आपूरित कर रही हैं, किन्तु फिर भी वह न तो बढ़ता है और न तो तृप्त ही होता है।१२ यह चित्त के समान विशुद्धाति विशुद्ध, स्वभावत प्रकाशमान्, स्वयसिद्ध, स्वतन्त्र और निर्मल है, किन्तु फिर भी अविद्या के कारण आगन्तुक दोषो से मलिन हुआ प्रतीत होता है।१३ यह धर्मधातु अद्वयतत्व है जो अविद्या का अधिष्ठान है। यह दृश्य प्रपच और बुद्धि की कोटियों के पर है। जिस पर आकाश, सुवर्ण और जल स्वभावत निर्मल और विशुद्ध होते हुए भी, बादल खान और धूलि के कारण मलिन प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार सत्ता या धर्मधातु भी स्वभावत निर्मल और शुद्ध

---

९. आदान विज्ञानगभीर सूक्ष्मो ओघो यथा वर्तति सर्व बीजो
बाला न एसो मयि न प्रकाशि मोहैव आत्मा परिकल्पयेयु।
(सन्धिनिर्मोचन सूत्र ५.६)

१० महायानसूत्रालङ्कार ६.२

११ वही ६.४

१२. वही ९ ५५

१३. वही १३ १८

होते हुए भी समारोपित अवधारणों द्वारा (superimposed notions) मलिन सा प्रतीत होता है।

वसुबन्धु भी अपने अग्रज आर्य असंग की भांति धर्मधातु या परमार्थ का वर्णन एक परम सत्ता के रूप में करते हैं और कहते हैं कि यह धर्मधातु अचिन्त्य है तर्क और लोकोत्तर ज्ञान की सीमा के परे है। यह अनभिलाप्य, परमानन्द, सुखरूप और नित्य है। यह ही मोक्ष और निर्वाण है। यह हो महामुनि बुद्ध का धर्म काय है। मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार विज्ञप्तिमात्रता या धर्मधातु का वर्णन करने का प्रयत्न अवश्य किया है, किन्तु वस्तुत. यह चित्रण का विषय नहीं। इसे तो केवल बुद्धजन ही जान सकते हैं।[१४] विज्ञप्तिमात्रता का वर्णन करने में दिग्नाग और धर्मकीर्ति भी वसुबन्धु का अनुकरण करते हैं। वे कहते हैं कि 'आत्मा' तत्त्वत अद्वय' है। अविद्या से पीड़ित होने के कारण हम इस स्वभाव से 'विमल' 'अविभागात्मा'[१५] को दोष तथा ग्राह्य' और 'ग्राहक' के भेदों से युक्त देखते हैं।[१६]

वस्तुत बाहर दिखनेवाला यह प्रपच हमारे मन की सृष्टि है जो कि अज्ञान के कारण हमे बाह्य जगत् के रूप में अवभासित होता है।[१७] शान्तरक्षित और कमलशील के साहित्य में भी हम इसी सत्ता का दर्शन करते हैं। वे कहते हैं कि असग, वसुबधु, दिग्नाग और धर्मकीर्ति 'जसे महान आचार्यों ने विज्ञप्तिमात्रता को निर्पेक्ष सत्ता के रूप में विधिवत् स्थापित कर दिया है। इस निपक्ष सत्ता के निश्चय के लिए हम भी उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करते हैं।[१८] उपनिषदो मे दिए गए 'आत्मा' के निम्नलिखित वर्णन से हम देखेंगे कि विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त औपनिषदीय 'आत्मवाद' से कितना अधिक मिलता जुलता है जब ज्ञानी आत्मतत्व के प्रकाश से युक्त हो अज ध्रुव और सर्वतत्त्व विशुद्ध ब्रह्मतत्त्व का दर्शन करता है तब वह सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[१९] यह सत्ता प्राणियों के शरीर के कणकण में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार तेल, घृत, जल और अग्नि क्रमश. तिल, दही,

---

१४. विंशतिका २२, त्रिंशिका ३०

१५ प्रभास्वरम् इद चित्तं प्रकृत्याऽगन्तवोमल। प्रमाणवार्त्तिक २.२०९

१६. अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासित दर्शनैः।
ग्राह्यग्राहक संवित्ति भेदवा निवलक्ष्यते॥ प्रमाणवार्त्तिक ३.५४

१७. यदन्तर ज्ञेयरूपं तु बहिर्वद्व भासते

१८ विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि धीमद्भिर्विमलीकृता।
अस्माभिस्तद्दिशा यातं परमार्थ विनिश्चये॥ तत्वसंग्रह २०८४

१९. श्वेताश्वेतर २.१५

नदी और ईंधन में व्याप्त हैं। सत्य और तपश्चर्या द्वारा कोई भी व्यक्ति इस सत्ता का दर्शन कर सकता है।२० इस सत्ता को अन्तःप्रज्ञा, बहिष्प्रज्ञा, उभयतःप्रज्ञा, प्रज्ञानघन और प्रज्ञाप्रज्ञा की कोटियों में बांधा नहीं जा सकता! यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्ययदेश्य, सर्ववस्तुसार, शिव और अद्वैत है तथा समस्त प्रपञ्चों से परे है। यह भी सज्ञा सन्तों की अनुभूति और अन्तर्दर्शन का विषय है।२१ इस सत्ता का साक्षात्कार कर लेने पर साधना में लीन व्यक्ति नामरूपयुक्त शरीर को छोड़ कर इस सत्ता में इसी प्रकार लीन हो जाता है जिस प्रकार समुद्र में गिरने पर नदियाँ उसमें विलीन हो जाती हैं।२२

चित्त का स्वरूप

योगाचार दर्शन के प्रवर्तक आर्य असंग के अनुसार सत (real) तात्त्विक रूप (essentially) से अद्वय है। इसे सत्, असत, विधि, निषेध, भेद, अभेद, एक, बहु वर्धमान, ह्रासोन्मुख, शुद्ध, अशुद्ध, उत्पत्ति या विनाश कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह बुद्धि और अविद्या दोनों के परे है।२३ असंग के इस वर्णन में हमें नागार्जुन के विचारों की छाप मिलती है जो सत्ता को सत, असत, सदसत और असदसत अर्थात बुद्धि की समस्त कोटियों से परे मानते हैं। नागार्जुन की भांति असंग यह भी मानते हैं कि संसार और निर्वाण में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही असत हैं। फिर भी इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से कि लोग शुभ कर्मों को करने की ओर प्रवृत्त हों, इस यह प्रतिपादन करते हैं कि शुभ कर्मों को करने से तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति से आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं।२४ इस प्रकार असग के सत्ता के वर्णन में हम शून्यवादी दृष्टिकोण का दर्शन पाते हैं। किन्तु असग इससे आगे बढ़ते हैं। वे अपनी विचारधारा में एक ऐतिहासिक मोड़ लाते हैं और नागार्जुन के दर्शन के धरातल से दूर हट कर अद्वैत वेदान्त की स्थिति पर पहुंचते हैं। वे कहते हैं कि आत्मज्ञान के द्वारा तथा 'धर्मनैरात्म्य' और पुद्गलनैरात्म्य का ज्ञान होने पर तथा

---

२०. वही, १-१५
२१. मुण्डक मन्त्र ७
२२. मुण्डक ३ खण्ड २-४
२३ महायानसूत्रालंकार ६-१
२४. वही, ६ ५

शून्यता के विशुद्ध रूप का ज्ञान होने पर एवं आत्मज्ञान द्वारा व्यक्ति को महात्मन् या ब्रह्म की प्राप्ति होती है। रेने ग्रूसे के अनुसार असंग सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि वे नागार्जुन के मार्ग से च्युत न हों यद्यपि वे अपने दर्शन में नागार्जुन की शून्यता या 'निषेधमात्र' से बहुत दूर चले जाते हैं। वे एक भावात्मक या वस्तुपरक सत्ता (positive reality) की स्थापना करते हैं जहाँ तथता और विषयों की धर्मता या विषयनिष्ठता महात्मन् में विलीन हो जाती है। असंग कहते हैं कि 'नदियाँ निरन्तर समुद्र के जल में आकर विलीन हो रही हैं किन्तु समुद्र न तो बढ़ता ही है और न सन्तुष्ट होता है। इसी प्रकार बुद्धजन निरन्तर सत्ता में विलीन हो रहे हैं किन्तु फिर भी 'सत्ता' बढ़ती या सन्तुष्ट होती नहीं प्रतीत होती यह कितना बड़ा आश्चर्य है।२५ वे 'सत्ता' की एकरूपता को स्थापित करते हुए पुन कहते हैं कि भिन्न स्थानों में बहनेवाली और भिन्न जलवाही नदियाँ अकेले अकेले बहती हुई नदी ही कहलाती हैं किन्तु समुद्र में गिरने के बाद वे समुद्र हो हो जाती हैं इसी प्रकार भिन्न विचार रखनेवाले व्यक्ति अपनी इस स्थिति में क्षुद्र बुद्धि 'finite intellect' ही कहलाते है बुद्ध से मिलने पर वे बुद्ध या निर्पेक्ष (absolute) हो जाते हैं२६। उपयुक्त वर्णन से पता चलता है कि असंग नागार्जुन का साथ छोड़ रहे हैं और इस निर्पेक्ष (absolute) की स्थापना कर रहे हैं जो चित्त या विज्ञप्तिमात्रता' कहलाता है। असंग के अनुसार 'भ्रमजन्य सर्प की भाँति द्वैत एक प्रत्ययमात्र है इसका कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुत न तो 'ग्राह्य' है और न 'ग्राहक' ग्राह्य ग्राहक एक उपालंभ या प्रत्ययमात्र है। आर्यज्ञान के पथ के पथिक को ज्यों ही बाह्य विषयों की अवास्तविकता का बोध करना हो जाता है त्यों ही उसके सविकल्पक चित्त (determinate mind) का भी अन्त हो जाता है क्योंकि दोनों ही परस्पराश्रित हैं विषयी और विषय सहवर्ती हैं एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सभव नहीं। 'विषयी और विषय के द्वित्व (duality) का अतिक्रमण करने पर हमें उस सत्ता (reality) का दर्शन होता है जिसे धर्मधातु, तथागत और विज्ञप्तिमात्रता' आदि नामों से पुकारा जाता है।२७ जो द्वित्व (duality) से परे है, अज्ञात या भ्रम का अधिष्ठान है, प्रपंच से परे अवर्ण्य, और सहज प्रकाशमान है। इसमें दीख पड़नेवाले बाह्य विकार अज्ञानजन्य हैं।

वसुबधु अपने दर्शन में विज्ञप्तिमात्रता को एक दृढ़ आधार प्रदान करते हैं। उन्हें नागार्जुन

---

२५. महायान सूत्रालंकार ९-५५

२६. महायानसूत्रालङ्कार ९-३३

२७ वही, ९ ३३

की तनिक भी परवाह नहीं। वे दो टूक शब्दों में बाह्य जगत् के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार चित्त या विज्ञप्तिमात्रता ही 'विषयी' और 'विषय' के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है। वह अपने ही बीज से उद्भूत होता है और बाह्य विषय के रूप में प्रदर्शित करता है यही कारण है कि बुद्ध ने संज्ञान (cognition) के दो (आश्रय) आयतन 'बाह्य और आन्तरिक' स्वीकार किया था। इस तथ्य का ज्ञान होने पर व्यक्ति को यह अनुभूति होती है कि न तो व्यक्तिगत अहम् (personal ego) का ही अस्तित्व है और न बाह्य विषयों ही का, क्योंकि दोनों ही 'विज्ञप्तिमात्रता' के अभिव्यक्तिमात्र हैं।[२८]

वसुबंधु नागार्जुन के शून्यता सिद्धान्त से निश्चित ही आगे बढ़े हैं। नागार्जुन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सापेक्ष है। वस्तुओं का कोई स्वास्तित्व (self existence) नहीं।[२९] वसुबंधु के अनुसार प्रत्येक वस्तु अवास्तविक है किन्तु फिर भी एक ऐसी सत्ता है जिसके सन्दर्भ में ही अन्य वस्तुओं की अवास्तविकता का ज्ञान होता है। अनभिलाप्य विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता, जो बुद्धजनों को अनुभूति का विषय है, का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बुद्धि इसके विषय में सोच भी नहीं सकती। बुद्धि की कोटियो द्वारा हमारा विचार जिस विशुद्ध विज्ञप्तिमात्रता के प्रत्यय की कल्पना करता है वह अवास्तविक है क्योंकि यदि इसकी वास्तविकता मान ली जाए तो हमें बुद्धि के प्रत्यय की सत्ता को भी मानना पड़ेगा जो असम्भव है। बुद्धि विज्ञप्तिमात्रता के विषय में सोच भी नहीं सकती का अर्थ यह नहीं कि यह इसकी सत्ता ही नहीं। इसका तात्पर्य केवल यह है कि यह बुद्धि की कोटियों से परे है यह सभी वस्तुओं का आधार है। इसकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि इसकी सत्ता को अस्वीकार करने के लिए भी हमें एक दूसरे चित्त की कल्पना करनी पड़ेगी और फिर उसे भी अस्वीकार करने के लिए एक तीसरे चित्त की।[३०] इस प्रकार चित्त की अनन्त शृंखला जोड़नी पड़ेगी। अतः चित्त या विज्ञप्तिमात्रता का अस्वीकरण या खण्डन वदतोव्याघात है। दूसरे शब्दों में अस्वीकरण की प्रक्रिया ही विज्ञप्तिमात्रता की सत्ता पर आधारित है न कि इसके अनस्तित्व पर।

---

२८. विंशतिका ९

२९. माध्यमिक कारिका २२-१६

३० विंशतिकावृत्ति—पृष्ठ ११

संत धर्मदास का समय

पारसनाथ तिवारी

कबीर के पश्चात् कबीरपंथ में धर्मदास ही सबसे अधिक प्रतिभाशाली संत हुए हैं और साहित्य तथा सम्प्रदाय सगठन आदि की दृष्टि से कबीरपथ उनका सबसे अधिक ऋणी है, किन्तु अभी तक उनके आविर्भाव का समय विद्वानों के विवाद का विषय बना हुआ है। कबीरपंथ में उन्हें कबीर साहब (सं० १४५५-१५०५ अथवा १५७५ वि०) का समकालीन माना जाता है। संम्प्रदाय के कुछ आधुनिक ग्रथों में उनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी का अंतिम भाग बतलाया गया है। प्रसिद्ध कबीरपथी विद्वान् स्वामी श्री ब्रह्मलीनविरचित 'सद्गुरु श्री कबीर चरितम्' नामक संस्कृत ग्रथ में कहा गया है—

> अथ बुन्देलखण्डस्य बान्धोगढ़पुरे शुभे ।
> ऋद्ध बणिग्गृहे जातो धर्मदासो हि धर्मधी ॥
> पञ्चदश शताब्दान्ते समृद्ध द्रव्यवानसौ ।
> तृतीय आयुर्षा भागे निवृत्तो गृहकर्मत. ॥[१]

किंतु ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करने वाले विद्वानों को उनका यह समय मान्य नहीं। उदाहरणतया आचार्य परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि "संत धर्मदास द्वारा स्थापित कहे जाने वाले कबीरपथ अथवा वस्तुत उसकी छत्तीसगढ़ी शाखा की गुरु-परम्परा वाली तालिका पर यदि विचार करते हैं तो इनका आविर्भावकाल विक्रम सवत् की सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय या प्रथम चरण तक आता है।"[२]

डा० केदारनाथ द्विवेदी ने उपर्युक्त अनुमान को कुछ अधिक प्रमाणपुष्ट भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कबीरपथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के कुछ प्राचीन पत्रों तथा पंजों (महन्तों के व्यवस्थासूचक आज्ञापत्र) की सहायता से धर्मदास की पाचवीं पीढ़ी में होने वाले प्रमोदगुरु बालापीर तथा उनके बाद के आचार्यों के गद्दीकाल का पता लगा लिया है, जिसके आधार पर दामाखेड़ा (म० प्र०) से प्रकाशित 'वंशपरिचय' में उल्लिखित प्रमोदगुरु का गद्दीकाल सं० १७५० वि० प्रामाणिक सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रत्येक आचार्य का कार्यकाल औसतन पचीस वर्ष मानकर धर्मदास का देहावसान स० १६७५ के लगभग और उनका जन्म स० १६०० के कुछ पश्चात् माना जा सकता है।

---

१. श्लोक ८-९, पृ० १६८।

२. उत्तरीभारत की संतपरंपरा, पृ० २८२।

प्रस्तुत निबंध में इस समस्या से सम्बद्ध कुछ नये तथ्य जुटाये गये हैं जिनके आधार पर कदाचित् कुछ अधिक निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। 'धर्मदासबोध अथवा ज्ञानप्रकाश' नामक एक कबीरपंथी ग्रंथ में[3] धर्मदास के प्रथम गुरु रूपदास बिट्ठलेश्वर बतलाये गये हैं जिनके उपदेशानुसार वे मूर्तिपूजा तथा तीर्थाटन आदि में अपना समय बिताते थे। इस ग्रंथ के रचयिता कौन हैं, इस संबंध में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु कुछ अन्य कबीरपंथी ग्रंथों की भांति यह भी संवादात्मक शैली में लिखा गया है और धर्मदास आरंभ से अंत तक उसके एक वक्ता के रूप में दिखलाये गये हैं। असंभव नहीं कि उसके रचयिता भी वही हों। अस्तु, इसमें कहा गया है कि एक बार मथुरा की यात्रा में जब वे ठाकुर जी की पूजा चंदन, अक्षत आदि से कर रहे थे तब निकट बैठे हुए एक साधु ने उनसे पूछा—

अहो साहु तुम यह का करहू। पौवा सेर छटाँकी धरहू॥
केहि कारण तुम प्रकट करावा। डार पिटारी काह छिपावा॥[4]

ठाकुर जी की मूर्तियों को पौवा, सेर छटकी का बटखरा बताने वाले साधु पर धर्मदास को आश्चर्य हुआ और उन्होंने जब उसका परिचय पूछा तो उसने अपने को कबीर द्वारा भेजा हुआ बताया और यह जिज्ञासा प्रकट की—

हो गुरुमुख कै निगुरा भाई। तौन बचन मोहि कहु समझाई॥

धर्मदास द्वारा इस जिज्ञासा का समाधान जिस प्रकार करवाया गया है वह प्रस्तुत प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। धर्मदास का उत्तर इस प्रकार है—

हे साहिब गुरु तो हम कीन्हीं। तिन तो मोहि सिखापन दीन्हीं।
रूपदास बिठलेश्वर सोई। तिनके सुनो शिष्य हम होई॥
तिनही मोंहि भेद समुझावा। सालिग्राम पूजा मन लावा॥
गया गोमती कासी प्रागा। द्वावे पुण्य भजन अनुरागा॥
लक्ष्मी नारायण मूरति दीन्हीं। विष्णु पंजर सुमिरण चित चीन्हीं॥
बाल मुकुंद गोविंद मुरारी। गोपी बल्लभ कुंज बिहारी॥
जगन्नाथ बलभद्र सहोदरा। पंचदेव और देव गजेंद्रा॥
यह कहि बहुत प्रबोध दृढ़ाई। मूरति पूजा होम मुक्ताई॥[5]

---

३. सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर (म प्र०) तथा वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई द्वारा प्रकाशित।
४. नरसिंहपुर संस्करण पृ० १८ तथा वेंक० प्रे० संस्करण पृ० ३९८ (बोधसागर)।
५. वही, पृ० २२-२३ तथा ४०२।

साधुने कहा, 'जाकर अपने गुरुजी से पूछो कि घट के भीतर कौन बोलता है' इस शंका का निवारण करने के लिए जब धर्मदास अपने गुरु रूपदास के पास गये तब उन्होंने पुनः इस प्रकार प्रबोधन किया।

बिष्णुपंजर लक्ष्मीनारायण। प्रतिमा पूजन मुक्तिपरायण॥
मन बिच सुमिरहु कुंज बिहारी। रहै बैकुंठ सदा बनवारी॥६

प्रश्न यह उठता कि धर्मदास के प्रथम गुरु यह रूपदास कौन थे, जिनका संकेत 'धर्मदासबोध' में प्राप्त होता है। मध्यकालीन भक्ति साहित्य में इस नाम के कई भक्तों के उल्लेख मिलते हैं। नाभादासकृत भक्तमाल में रूप अथवा रूपा नाम के तीन भक्तों की चर्चा है—एक तो रामोपासक कील्हदेव (कृष्णदास पयहारी के शिष्य तथा नाभादासके गुरु अग्रदास के गुरुभाई तथा समकालीन) के शिष्य रूपदास,७ दूसरे चैतन्य के प्रसिद्ध शिष्य रूप गोस्वामी८ (सं० १५४७-१६४७ वि०) और तीसरे निम्बार्क सम्प्रदाय के हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य रूपरसिक देव९ उनका संक्षिप्त नाम 'रूपाजो' भी प्रचलित था। अन्य स्रोतों से प्राप्त नामों में तीन इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं सखी संप्रदाय के स्वामी रसिकदास (निकुञ्जगमन स० १७५८ वि०१०) के शिष्य रूपसखी, गो० बिट्ठलनाथ (स० १५७२-१६४२) के शिष्य रूपमुरारीदास तथा अमरपुरुष निरंजनो के शिष्य११ रूपदास जिनका एक रचना 'सेवादास की परची' में रचनाकाल स० १८३२ दिया हुआ है।१२

हमें देखना है कि उपर्युक्त भक्तों में से किसके साथ धर्मदास के सम्बध की सभावना हो सकती है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि सखी सम्प्रदाय तथा निरंजनी सम्प्रदाय के रूपदास और धर्मदास की समकालीनता की कल्पना किसी भी प्रकार से नहीं की जा सकती, क्योंकि हमने ऊपर देखा कि धर्मदास की शिष्यपरंपरा में आने वाले प्रमोदनाम गुरु बालापीर स० १७०० वि० में कबीरपथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के आचार्य हुए थे। इस

---

६ वही, पृ० २६ तथा ४०४।

७ भक्तमाल छप्पय १५८, वृंदावन संस्करण पृ ८५८।

८ वही, छप्पय ८९, पृ० ५५०।

९ वही, छप्पय १०५, पृ० ६५८।

१० डा० शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्ण भक्तिकाव्य में सखीभाव, पृ० ४९३।

११ दे० भावसिन्धु की अठारहवीं वार्ता।

१२ स्वामी मंगलदास जी, हरिदास निरंजनी की वाणी पृ० २०५ (उत्तर खंड)

प्रकार स्पष्टत: उपर्युक्त दोनों रूपदास धर्मदास के परवर्ती थे और फिर निरंजनी संप्रदाय के संत तो हमारी विचार-परिधि में इसलिए भी नहीं आएँगे, क्योंकि वे निर्गुणोपासक थे, जबकि धर्मदास ने अपने प्रथम गुरु को स्पष्टत सगुणोपासक बताया है। पुन इस बात में भी संदेह नहीं कि वे कृष्णोपासक थे—अत कोल्हदेव के शिष्य रूपदास भी रामोपासक होने के कारण उनके गुरु नहीं हो सकते। 'धर्मदास बोध' में रूपदास नाम के साथ 'विट्ठलेश्वर' विरुद भी जुड़ा हुआ है, और उन्हें लक्ष्मीनारायण के विग्रह का उपासक चित्रित किया गया है, अत चैतन्यशिष्य रूप गोस्वामी से उनकी अभिन्नता की सम्भावना भी समाप्त हो जाती है, साथ ही गो० बिट्ठलनाथ के शिष्य रूपमुरारी दास के संबंध में विचार करने के लिए अधिक प्रेरणा मिलती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' सं० ५, ८) तथा 'भावसिंधु' (वार्ता १८) के अनुसार वे पृथ्वीपति (अकबर) के शिकारविभाग के साधारण चाकर थे। बाज़ पक्षी का शिकार कर रक्त के छींटों से सने वस्त्रों में ही गोविंदकुण्ड पर संध्या करते हुए गो० बिट्ठलनाथ के दर्शन उन्होंने किये थे और वहीं उनसे दीक्षा ली थी। भावप्रकाश के अनुसार वे जाति के क्षत्रिय थे और मूलत अम्बाला के निवासी थे। डा० हरिहरनाथ टंडन ने अनुमानत उनका शरणकाल सं० १६२० के लगभग माना है।[13] किंतु गोस्वामी जी की शरण में आने के पश्चात् भी इन्होंने बादशाह की चाकरी नहीं छोड़ी थी। उसके साथ इनके काबुल जाने और वहाँ माधव दास से मिलने की घटना का वर्णन वार्ता में है। अकबर की नौकरी छोड़कर ज्योंही वे वृंदावन आए, उसी रात को इनकी मृत्यु हो गई? 'भावसिंधु' के अनुसार "तब अकबर ने कही जो तुम जाओ गोकुल में कन्हैया जी की मौज में रहो। जो तुमसों नौकरी नहीं होती है। सो वाही समय ए बिदा होयके श्री गोकुल को चले आए। तब आपने (गो० विट्ठलनाथ ने) आज्ञा करी जो जाओ न्हाय आवो। सो रूपमुरारिदास आपको स्वरूप हृदय में धरिके रमणरेती के बीच में घना में निकसी गए। सो एक एक वृक्ष लता को मिले और रुदन करे हैं सवारे प्रात काल आपकी वायोगाग्नि हृदय में प्रगटी। तब वा विरह में साक्षात् तत्काल लीला में प्राप्ति भए। तब आज्ञा करी जो मुरारीदास नो दसमी अवस्था कों पोहोंचि गए। दोय चार मनुष्य ले के लौकिक संस्कार करि देऊ।[14] इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि रूपमुरारी दास किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से नहीं रहते थे और

१३ वार्तासाहित्य पृ० ३१०-११ (दे० पृ० ४४९, ५१७ ५२२, ५५२ ५५५ तथा ५९९ भी)।

१४ श्री भक्तिग्रंथमाला (अहमदाबाद) संस्करण, पृ० २७५—२७७।

बादशाह अकबर की नौकरी में आजीवन रहे, अतः उनके द्वारा अन्य व्यक्तियों को दीक्षा दिये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता उनका नाम भा 'भावसिंधु' में अनेक स्थलों पर मुरारीदास के ही रूप में मिलता है, अतः जान पड़ता है कि उनका वही नाम अधिक प्रचलित था न कि रूपदास नाम। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त भक्तों में से यदि किसी के साथ धर्मदास का सम्बन्ध रहा होगा तो वे निम्बार्क सम्प्रदाय के रूपरसिक देव ही रहे होंगे। कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में केवल निम्बार्क सम्प्रदाय में ही लक्ष्मीनारायण को उपासना विदित थी। इस सम्प्रदाय के उपास्य देवता प्रारम्भ में नारायण और बाद में काल क्रमानुसार श्रीकृष्ण तथा उनके गोपालादि अनेक रूप हुए। वहाँ आरम्भ में श्रीकृष्ण के साथ राधा का उल्लेख कम ही हुआ है। उपासना पद्धति भी वैधी अथवा कर्मकाण्डमय रही है।१५ इस विचारसरणि के आलोक में जब हम 'धर्मदासबोध' के रूपदास पर विचार करते हैं तब 'बालमुकुन्द गोविन्द, मुरारी, गोपिवल्लभ, कुञ्जबिहारी' के साथ 'विष्णुवर लक्ष्मीनारायण' की आराधना का उनका उपदेश अपना रहस्य खोल देता है। वृन्दावन के भक्तमाल से ज्ञात होता है कि इनका प्रचलित नाम 'रूपा जी' ही था, काव्य में 'रसिक' शब्द वे अपनी मधुर भावना के कारण जोड़ते थे सम्प्रदाय में उनका पूरा नाम रूपरसिक देवाचार्य प्रचलित था)। विचारणीय है कि रूपरसिक का समय वस्तुतः क्या था?

रूपरसिक ने कालक्रमानुसार हरिव्यासयशामृत' वृहदुत्सव मणिमाल' 'नित्यविहार पदावली' तथा 'लीलाविंशति' की रचना की अपनी अन्तिम रचना 'लीलाविंशति' के आरम्भ में उन्होंने गुरुरूप में हरिव्यासदेव का स्मरण किया है१६ किन्तु वृन्दावन के भक्तमाल१७ में यह सूचित किया गया है कि वे दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और हरिव्यास देवाचार्य का प्रताप सुनकर जब वृन्दावन उनके दर्शन को आये तब हरिव्यास जी लीला संवरण कर चुके थे—बाद में इनकी श्रद्धा के कारण पुनः प्रकट हुए और दर्शन देकर मन्त्रोपदेश किया। डा० रामप्रसाद शर्मा भी उन्हें हरिव्यासदेवाचार्य के शिष्य परशुरामदेवाचार्य का शिष्य मानते हैं,१८ किन्तु उनकी इस मान्यता का आधार अस्पष्ट है। जो भी हो हरिव्यास तथा रूपरसिक को लगभग समकालीन माना जा सकता है। हरिव्यास द्वारा लिपिबद्ध 'नृसिंह परिचर्या' नामक एक पोथी सरस्वती-

---

१५. डा० शरणबिहारी गोस्वामी, कृष्णभक्तिकाव्य में सखीभाव पृ० ५६१।

१६. प्रथम सुमिरि हरिव्यास जू, सकल अर्थ के धाम।

१७. पृष्ठ ६६०।

१८ परशुरामसागर प्र० खण्ड भू० पृ० १३।

भवन पुस्तकालय, वाराणसी के महीधर संग्रह में सुरक्षित है, किंतु उसके लिपि काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। श्री व्रजवल्लभशरण१९ तथा डा० रामप्रसाद शर्मा२० ने उसका लिपिकाल स १५२० बताया है जब कि कुछ अन्य विद्वान् उसे सं० १६२५ बतलाते हैं।२१ इस प्रकार दोनों तिथियों में लगभग सौ वर्षों का अंतर पड़ जाता है। सरस्वतीभवन के उपग्रंथाध्यक्ष ने मेरी तत्संबधी जिज्ञासा के उत्तर में सूचित किया कि 'नृसिंह परिचर्या पुस्तक पर-कालविषयक निम्नांकित पंक्ति लिखी है—

"सं० १६२५ वर्षे आषाढस्य सिते पक्षे चतुर्थ्यां रविवासरे। लिखितं हरिव्यासेन वाराणस्यां शुभस्थले।"२२ अत यदि उक्त पोथी के लिपिकर्ता तथा निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य हरिव्यासदेव अभिन्न हों तो उनका समय सं० १६२५ के आसपास मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

किंतु रूपरसिक की समस्या अपेक्षाकृत अधिक जटिल है। श्री व्रजवल्लभशरण२३ जी के अनुसार उनके अंतिम ग्रंथ 'लीलाविंशति' का रचनाकाल वृंदावन माधुरी के अंतिम दोहे में सं० १५८७ वि० दिया हुआ है, किंतु डा० शरणबिहारी गोस्वामी ने मुनि कांतिसागर जी के संग्रह की 'लीलाविंशति' प्रति की पुष्पिका उद्धृत की है, जिसमें रचनाकाल सं० १७८७ उल्लिखित है।२४ साथ ही दो अन्य साक्ष्य भी इसकी पुष्टि में उन्होंने प्रस्तुत किये हैं—

१ राधावल्लभीय गो० चन्द्रलालजी ने श्री किशोरी अलि को लिखे गये अपने पत्र में रूपरसिक जी को अपना प्रणाम लिखा है। कहा जाता है कि रूपरसिक कुछ समय जयपुर में किशोरी अलि के साथ रहे थे, जिनका समय सं० १७८० से १८६० तक है। डा० गोस्वामी के अनुसार यही समय रूपरसिक का भी होना चाहिए।

२. रूपरसिक कृत एक अन्य ग्रंथ—हरिव्यास यशामृत—में हुसेन, मीर रुस्तम, अब्दुल वाहिद मीर अहमद आदि कुछ ऐसे कवियों का उल्लेख है, जिनका रचनाकाल मिश्र बंधुओं के अनुसार अठारहवीं शताब्दी वि० में पड़ता है।२५

---

१९ भक्तमाल वृंदावन, पृ० ५२४।

२० परशुरामसागर, पृ० १२ (भूमिका)।

२१ उदाहरणतया दे० डा० गोस्वामी, कृष्णभक्तिकाव्य में सखीभाव, पृ० ५७०।

२२. दि० १-११-६८ के पत्र के आधार पर, जिसके लिए लेखक कृतज्ञ है।

२३. दे० भक्तमाल, वृंदावन, पृ० ५२८ तथा ६६० लीलाविंशति, श्री निकुंज, भूमिका।

२४. दे० कृष्णभक्तिकाव्य में सखीभाव, पृ० ५७३।

२५. वही, पृ० ५७८।

तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर 'लीलाविंशति' संबंधी उपर्युक्त दोनों तिथियों को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। सं० १६२५ में 'नृसिंहपरिचर्या' लिपिबद्ध करने वाले हरिव्यास के शिष्य रूपरसिक उक्त तिथि के ३८ वर्ष पूर्व सं० १५८७ में ही अपनी अंतिम रचना समाप्त कर लें—यह अविश्वसनीय लगता है। सं० १७८० में जन्म लेने वाले किशोरी अलि जी को उनका समवयस्क मानने और जयपुर में दोनों के सहवास की कल्पना भी निराधार ज्ञात होती है, क्योंकि इस तर्क के आधार पर केवल सात वर्ष की ही अवस्था में रूपरसिक द्वारा 'लीलाविंशति' की रचना सिद्ध होती है जो हास्यास्पद है। 'हरिव्यासयशामृत' के कुछ कवियों का परवर्ती होना केवल मिश्रबंधुओं के साक्ष्य पर सिद्ध करना उचित नहीं जान पड़ता। इस प्रकार के ग्रंथों में भक्तों की सूची में परवर्ती प्रक्षेप द्वारा वृद्धि की संभावना अधिक रहती है—इसका भी हमें ध्यान रखना होगा। 'लीलाविंशति' की रचना मुनि कांति सागर वाली प्रति की पुष्पिका में उल्लिखित तिथि (सं० १७८७ वि०) से पूर्व ही हो चुकी होगी—ऐसा आपाततः सिद्ध किया जा सकता है। रूपरसिक ने 'हरिव्यास यशामृत' में अनेक मधुभावोपासक भक्तों का उल्लेख किया है। इस सूची में परशुराम, स्वयंभू राम, केशव जी आदि के नाम तो आये हैं, किंतु परशुराम के शिष्य हरिवंशदेव, पौत्रशिष्य नारायणदेव तथा प्राचीन शिष्य वृंदावनदेव (आचार्य काल सं० १७५९ —१८०८) और रसावतार घनानंद (मृ० सं० १७९६ के लगभग) तक का उल्लेख न होना यह सिद्ध करता है कि ये सभी भक्त 'लीलाविंशति' की रचना के बाद हुए थे। जहाँ रूपरसिक अन्य अनेक साधारण भक्तों तथा कवियों का उल्लेख करते हैं वहाँ घनानंद जैसे प्रसिद्ध कवि का उल्लेख न करें—जब कि उस समय तक वे पूर्ण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होंगे—विलक्षण ज्ञात होता है। सभी साक्ष्यों पर विचार करते हुए अनुमान किया जा सकता है कि 'लीलाविंशति' का रचनाकाल कदाचित् सं० १६८७ था, क्योंकि सं० १६२५ वि० में वर्तमान हरिव्यास के शिष्य का रचनाकाल सं० १६५० के पश्चात पड़ना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। इसी आधार पर हम उनके शिष्य धर्मदास का समय भी निश्चित कर सकते हैं। धर्मदास अपनी आयु के आरंभिक अंश में ही रूपा या रूपरसिक के सम्पर्क में आये होंगे अतः गुरुशिष्य को लगभग समवयस्क मान सकते हैं अथवा दोनों की अवस्था में दस-पाँच वर्षों का ही अंतर माना जा सकता है।

किन्तु धर्मदास के गुरु रूपदास तथा निम्बार्कीय रूपरसिक को अभिन्न सिद्ध करने के लिए कुछ और प्रमाण जुटाने पड़ेंगे, क्योंकि 'धर्मदास बोध' केवल इतनी जानकारी प्राप्त कराने में हमारी सहायता करता है कि रूपदास मथुरा के पास रहते थे और लक्ष्मीनारायण की उपासना

के साथ ही साथ बालमुकुंद, गोपीवल्लभ (कृष्ण) की आराधना तथा तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि का प्रतिपादन करते थे और हमने देखा कि 'धर्मदासबोध' के रूपदास के स्थान पर यदि हम निम्बार्कीय रूपरसिक को प्रतिष्ठित कर दें तो उपरोक्त साक्ष्यों में से किसी को बाधित नहीं होना पड़ता प्रत्युत दोनों को अभिन्न मानने में ये साक्ष्य सहायक ही सिद्ध होते हैं। किन्तु इन्हीं के आधार पर दोनों का मेल मिला देना बादरायण सम्बन्ध भी मान लिया जा सकता है। अतः इस सम्भावना में अधिक दृढ़ता लाने के लिए कुछ अन्य साक्ष्य भी अपेक्षित हैं। हमें प्रसन्नता है कि इस प्रकार के साक्ष्य का भी अभाव नहीं। 'लीलाविंशति' में तत्कालीन निम्बार्कीय भक्तों की सूची में रूपरसिक न धरमा और भगवान् को भी सम्मिलित किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय और कबीरपंथ के पारस्परिक सम्बन्ध पर नया प्रकाश डालने में इन साक्ष्यों का अत्याधिक महत्व है।

कबीरपंथ की भगताही शाखा (बिहार) के प्रवर्तक भगवान साहब के सम्बन्ध में कबीरपंथी ग्रंथों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे मूलतः निम्बार्कमतानुयायी थे—

निमानंद आचार्य के अनुयायी परवीन
गोस्वामी भगवान थे पथपरदर्शक भीन ॥२६

पहले वे पिठौराबाद (अलवर ?) में रहते थे और बाद में कबीर साहब के सिद्धान्तों से प्रभावित होने पर उन्होंने बिहार में अपना पृथक् सम्प्रदाय चलाया। कबीरपंथ के धर्मग्रंथ 'बीजक' के मूल सकलनकर्ता भी यही थे—इसे हमने अन्यत्र सिद्ध करने का प्रयास किया है।[२७] परशुराम देव की रचनाओं[२८] को देखने से इस बात का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन निम्बार्कीय भक्तों में कबीर की निर्गुण विचारधारा का प्रभाव कितना ज़ोर मार रहा था। निम्बार्क सम्प्रदाय में परशुरामदेव एक मान्य आचार्य हैं, किंतु उनकी वाणी का मूल स्वर कबीरी है—यह उनके सभी अध्येता स्वीकार करते हैं। डा० शरणबिहारी गोस्वामी का कथन है कि 'श्री परशुरामदेव पूर्णतया सखीभाव के कवि नहीं हैं। पूर्णतया तो वे सगुणमार्ग के उपासक भी नहीं हैं। उनके अनेक ग्रंथ निर्गुण भक्ति से सम्बन्ध रखते

---

२६ मूल बीजक, धनौती मठ (गुरु प्रणाली दो० ११)।

२७ दे० कबीर-ग्रंथावली, हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्व० पृ० ७-१००।

२८. दे० परशुराम सागर, करेंट बुक कम्पनी, जयपुर।

हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय में इस प्रकार के कवि परशुराम अकेले हैं। इनकी इन प्रवृत्तियों के लिए मूल स्रोत ढूंढ़ना होगा २९ डा० रामप्रसाद शर्मा भी स्वीकार करते हैं कि "परशुरामदेव के समूचे काव्य में निम्बार्कीय रसोपासना की स्पष्ट और व्यापक अभिव्यक्ति कहीं नहीं हुई है।'३० किंतु उन्होंने इसका बड़ा मनोरंजक समाधान ढूंढ़ निकाला है। उनके अनुसार "परशुरामदेव की निम्बार्कीय उपासना उनके हृदय तक ही सीमित थी तथा युग की विषमता के कारण उनके काव्य में इस गुह्य उपासना की अभिव्यक्ति नहीं हो सकी थी।"३१ अर्थात् हृदय से कुछ और तथा वाणी से कुछ और—ऐसे थे परशुरामदेवाचार्य जी।

वस्तुत डा० गोस्वामी ने आचार्य परशुराम की निर्गुण विचारधारा के जिस मूल स्रोत की जिज्ञासा प्रकट की है, उसके संकेत निर्गुण तथा सगुण साहित्यों में प्राप्त उल्लेखों के तुलनात्मक अध्ययन से ही प्राप्त हो सकते हैं प्रस्तुत निबंध में इस दिशा की ओर कुछ प्रयत्न किया गया है उत्तरी भारत में उस समय कबीर की निर्गुण विचारधारा का प्रचार बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा था। इसके सामाजिक तथा राजनीतिक कारणों की चर्चा यहां अनपेक्षित है, क्योंकि उससे सभी परिचित हैं। किन्तु राजस्थान में दादू (सं० १६०१-६०) तथा हरिदास निरंजनी (मृ० सं० १७००) और पंजाब में सिक्ख सम्प्रदाय के आविर्भाव का यही समय था। 'धर्मदासबोध' की गवाही से हमारी इस जानकारी में कोई कोर कसर नहीं रह जाती कि उस समय किस प्रकार कबीर के प्रचारक कहीं 'जिंदा' (मुसलमान) वेश में और कहीं साधु (हिन्दू) वेश में विचरण कर रहे थे और ठाकुर जी की मूर्तियों को पौवा सेर, छटांकी का बटखरा बतलाते फिरते थे। इनके 'साखी, सबदी, दोहरा' से धर्मदास या रूपरसिक के समसामयिक या तुलसीदास भी तंग आ चुके थे और उन्हें 'राम नाम जपु नीच' का प्रतारणापूर्ण उपदेश देते थे कबीर के रामरस में माते ये संत उस समय, लगता है, छुट्टे घूम रहे थे। निम्बार्क सम्प्रदाय की ओर किसी कारणवश ये लोग ज्यादा लटक गये थे। दोनों सम्प्रदायों में उपलब्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि धरमा और भगवान् इन दो निम्बार्कियों को तो उन्होंने एक दम फोड़ लिया था। परशुराम देव को भी अंदर-अंदर उन्होंने अपने निर्गुणियां रंग में रंग लिया था— गद्दी के सहारे वे बिहरने से बच गये, यही गनीमत समझिए।

२९. कृष्णभक्ति में सखीभाव, पृ० ५७६।

३०. परशुराम सागर भाग १, भू० पृ० ४३।

३१. वही, पृ० ४५।

इस प्रकार भक्ति साहित्य की पुरानी पोथियों का आलोड़न करने पर हमें कबीरपंथ और निम्बार्कसंप्रदाय के प्राचीन सम्बन्धों को उद्घाटित करनेवाली पर्याप्त सामग्री मिल जाती है और उसके आलोक से हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि धर्मदास के प्रथम दीक्षागुरु रूपदास जी थे जो निम्बार्क सम्प्रदाय के रूपरसिकदेवाचार्य से अभिन्न थे और धर्मदास तथा रूपरसिक दोनों का रचनाकाल सं० १६५० से सं० १७०० वि० के बीच माना जा सकता है।

संस्मरण—

बापू मेरो नजरों में

रामकुमार भुवालका

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की गणना उन युग-पुरुषों में को जाती है, जिन्होंने केवल युग परिवर्तन ही नहीं किया, अपितु अतीत, वर्तमान और भविष्य पर अपनी अमिट छाप छोड़ी, वह पीढ़ी जिसे बापू के सम्पर्क का लाभ मिला धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है और नयी पीढ़ी बापू के भौतिक सम्पर्क से वंचित है। लेकिन कई भावी पीढ़ियां बापू के आध्यात्मिक सम्पर्क से लाभान्वित होती रहेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है। वे सौभाग्यवान् हैं, जिन्हे बापू का दर्शन लाभ मिला, लेकिन वे भी कम भाग्यशाली नही हैं जो पिछली पीढ़ी से बापू के आध्यात्मिक संदेशो की धरोहर लेकर उदित हो रहे हैं। मानव-मूल्यों को गिरावट की इस बेला में बापू का महत्व बहुत अधिक है और उनकी प्रेरणाएं हमारे लिए नई दिशाओं की संकेत हैं। सागर में पोत के लिए प्रकाश-स्तम्भ का जो महत्व है वही वर्तमान विश्व के लिए बापूजी का है। इस प्रकाश स्तम्भ से ज्योति की किरणें प्रसारित हो रही हैं। हम इन किरणों से निदशित हो और सही दिशा में बढ़, तभी हमारा कल्याण सम्भव है। अन्यथा मानव-मूल्यों का स्खलन हमे पाताल-लोक में पहुचा देगा।

बापू—मेरी नजरों मे ? यह शीर्षक वस्तुत एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर दे पाना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन होगा। जिन लोगों ने बापूजी को देखा है, उनसे प्रेरणाएं ग्रहण की हैं उन्हे भी इस प्रश्न का उत्तर देते नहीं बनेगा। कारण, गांधीजी का व्यक्तित्व इतना विराट और जटिल था कि कोई भी व्यक्ति अपनी नजरों से उन्हें बांध नहीं सकता था। यही नहीं, गांधीजी भी अपने व्यक्तित्व को विराटता से अपरिचित थे। वह हर कार्य में अपनी अंतरात्मा से निर्देश ग्रहण करते थे। वह कोई भी कार्य अपनी सूझ-बूझ से नहीं, अंतरात्मा के निर्देश पर करते थे। यही कारण है कि बापूजी के बारे में जो कुछ भी लिखा जाए, वह अपर्याप्त और अपूर्ण होगा। मैं केवल यही कह सकूंगा कि मेरे हृदय में उनके प्रति अपरिमित श्रद्धा थी, जिसकी अभिव्यक्ति शब्दों में असम्भव है। वह मेरे लिए पितृ तुल्य थे। उनके सम्पर्क-क्षण मेरे जीवन की अमूल्य निधि हैं।

दिसम्बर, १९४१ की बात है। मैं उन दिनों बापू के साथ सेवाग्राम वर्धा में था। बापू उन दिनों काफी सोच-विचार में रहते थे। जापान, बर्मा पर बमवर्षा कर रहा था और भारत की पूर्वोत्तर सीमा पर जापान के आक्रमण की आशंका बढ़ गई थी। असम और बंगाल

में जनता भयभीत थी। अफवाहें फैल रही थीं कि शीघ्र ही कलकत्ता पर बमबारी होगी। उधर बर्मा से लोग भाग-भाग कर भारी संख्या में आ रहे थे। ये लोग अपने कष्टों और जापानी आतंक का आँखों देखा हाल सुनाते थे जिससे लोगों के दिल बैठने लगते थे। बापूजी ने कई बार मुझसे कहा कि मैं अपने परिवार को कलकत्ता से हटा दूं तो अच्छा रहेगा मैं अनसुना करके कलकत्ता चला आया लेकिन बापू ने मेरी चिन्ता नहीं छोड़ी। उन्होंने कई बार मुझे संदेश भेजा कि मैं अपने परिवार को कलकत्ता से हटाकर कहीं अन्यत्र भेज दूं क्योंकि कलकत्ता पर बमबारी की आशंका है। अंत में वही हुआ। जब कलकत्ता पर बमबारी हुई तो मुझे बापू की सलाह याद आ गई और मैंने तत्काल परिवार को कलकत्ता से बाहर भेज दिया मुझ जैसे तुच्छ व्यक्ति के लिए बापू के महान् हृदय में स्थान था—यह बात मैं किस तरह भूल सकता हूँ

बापू सदैव मेरी कुशल-क्षेम पूछते और हाल-चाल लेते रहते थे जब कभी मैं उनके दर्शन के लिए जाता तो वह सर्वप्रथम मेरे परिवार का हालचाल मुझसे पूछते और उन्हें यह जान कर बड़ा संतोष होता कि सभी लोग ठीक ठाक हैं एक बार जब मैं सेवाग्राम गया तो श्रीघनश्यामदासजी ने मुझसे कहा कि मैं भी कुछ दिनों के लिए वहीं रहूँ। उन दिनों श्री बिरला अस्वस्थ थे और गांधीजी उनकी चिकित्सा स्वयं कर रहे थे। वहां सेवाग्राम में उन दिनों रहने-सहने की बड़ी दिक्कत थी। मैंने श्री बिरलाजी से कहा कि यदि गांधीजी आज्ञा दे दें तो मैं वहां एक छोटा मकान रहने के लिए बनवा लूं। गांधीजी ने अनुमति दे दी और कहा कि जितना पैसा रामकुमार दे सकें उतने में ही मकान बनवाया जाये। उन दिनों मकान बनवाना ज्यादा कठिन और महंगा कार्य न था। मैं ५,०००) रु लगाने को राजी था। श्री बिरलाजी से स्व० महादेव भाई ने, जो उन दिनों जीवित थे, कहा कि वह बापू से अनुमति लेकर पक्का मकान बनवा दें। जब बापू से पूछा गया तो उन्होंने पक्का मकान बनवाने से इंकार कर दिया और कहा कि मकान कच्चा ही बनवाया जाए महादेव भाई ने श्री बिरलाजी को फिर से पूछने के लिये कहा। जब श्री बिरलाजी ने बापू से दुबारा पूछा कि पक्का मकान बनवाने में उन्हें क्या एतराज है तो बापू ने तुरन्त उत्तर दिया कि अगर मकान पक्का बनेगा तो गांव के आदमियों को काम कहां से मिलेगा? इसलिये कच्चा मकान बनने से गांव के आदमियों को काम मिलता रहेगा। बापूजी की दलील थी कि मकान कच्चा बनवाया जाए ताकि ग्रामीणों को रोजी-रोटी मिल सके। भला इस तर्क का खण्डन कौन कर सकता था। निर्धनों और विपन्नों के लिए बापू का हृदय सदैव चिन्तित रहता था और वह उनके कल्याण की दिशा में ही सोचते रहते थे। सर्व कल्याण और सर्वोदय के विचार बापू के मस्तिष्क कीदेन हैं। स्वदेशी आन्दोलन की नींव इन्हीं पर पड़ी है।

बापू का जीवन निर्मलता का पर्याय था। वह जो करते थे, वह कहते थे और जो कहते थे, वह करते थे। वह वास्तव मे 'वैष्णवजन' थे। क्योंकि उन्हें 'पराई पीर' का ज्ञान था और पीड़ित से सहानुभूति थी। वह ट्रेन मे तृतीय श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करते थे। एक बार जिस ट्रेन से गांधीजी यात्रा कर रहे थे, उसी ट्रेन से मै भी अपने मित्र स्वर्गीय श्री बसन्तलाल मुरारका के साथ जा रहा था। जब मै गांधीजी के डिब्बे में गया तो वहां मैंने देखा कि वह अकेले ही थे। मैंने उन्हें सम्बोधित करके कहा कि आप तृतीय श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करते हैं तो लोग समझते हैं कि आपको काफी कष्ट होता होगा। लेकिन यहां तो डिब्बे में आप अकेले दिखाई देते हैं जबकि अन्य डिब्बों में लोग भेड़ बकरी की तरह भरे हुए हैं। क्या आपको उन लोगों की पीड़ा का ज्ञान नहीं है? इस पर गांधीजी दुःखित होकर बोले, "मेरा दुर्भाग्य है कि मेरे पास इस डिब्बे में कोई नहीं आया। मैं तो चाहता हूँ कि लोग कष्ट पाने के बजाय मेरे पास आकर बैठें। मै क्या करूं? यदि लोग मेरी सुविधा के लिए स्वयं कष्ट पाते हैं तो यह बात मुझे बहुत खलती है"। मुझे स्वयं अपने कथन पर दुःख हुआ और शर्म भी आई।

गांधीजी अंदर और बाहर से बिलकुल पाक साफ थे। वह हिसाब-किताब मे भी चोरी छिपाव को बुरा समझते थे। एक बार उन्होंने मेरे हिसाब-किताब को देखा, जिसमें खुदरा खर्चे में कुछ रुपये लिखे हुए थे। उन्होंने तत्काल मुझसे पूछा, 'यह खुदरा क्या होता है? आप जो भी खर्चा करते हैं उसका स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए। मैं खुदरा का नाम ही पसन्द नहीं करता।' हम सभी लोग स्तम्भित रह गए और प्रण किया कि भविष्य में खरीद-बिक्री और खर्च का सही-सही स्पष्ट उल्लेख करेंगे।

बापू संग्रह वृत्ति के विरोधी थे। वह सादगी और न्यूनतम आवश्यकताओं का जीवन पसन्द करते थे चाहे कष्ट उठाना पड़े। एक बार कलकत्ता में बापूजी को कई दिनों रुकना पड़ा। मैं उन दिनों अपना अधिकांश समय बापू के सम्पर्क में व्यतीत करता था। एक दिन भाई प्यारेलाल ने मुझे अकेले मे पास बुलाकर कहा कि मैं बापू के लिए बाजार से एक थर्मस खरीद लाऊं। मैं बाजार से चार दुकानों से चार तरह के अच्छे थर्मस दिखाने के लिए ले आया। संयोगवश गांधीजी ने मुझे देख लिया। उन्होंने पूछा 'यह क्या लाए हो?' मैंने कहा कि भाई प्यारेलाल के आदेशानुसार मैं आपके लिए थर्मस लाया हूं। इन चारों में जो पसंद होगा वह रखकर बाकी तीन थर्मस लौटा दिए जायेंगे। बापू ने उसी समय भाई प्यारेलाल को बुलाया और मेरे सामने ही उनसे कहा, 'मैंने बार-बार कहा है कि वस्तुओं का संग्रह करना ठीक नहीं है जो भी उपलब्ध है, उसी से काम चलाओ'। मुझसे कहा,

'आप चारो थर्मस वापिस कर आए ।' मैं उस समय तो लाचार होकर चुप हो गया लेकिन कुछ देर बाद बोला अगर आपको जचे तो एक रख लेने में क्या हज है—तो फिर बोले जब जरूरत ही नहीं है तो क्यों रखा जाय। मैं फिर सोच में पड़ गया। कारण श्री प्यारेलालजी को जरूरत थी ऐसा उन्होंने कहा था फिर साहस बटोरकर मैंने कहा—अच्छा आप अगर रखते ही तो कौन सा रखते तो वह मेरी तरफ देखकर बोले अगर मुझे जरूरत हो और रखू तो ब्रिटेन का ही रखूं। मैंने कहा क्यों जापान देश तो एशिया में है हम भी एशिया में हैं। उसका जबाब उन्होंने बड़ो गम्भीरता से दिया। बोले—हमारा संबध तो ब्रिटेन से है–जापान से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं बापू की सूझ-बूझ का कायल हो गया।

बापू हमारे पथ-निर्देशक ही नहीं, हमारे अध्यात्म गुरु भी हैं। उन्होंने हमको जो कुछ दिया है वह बेमोल और बेजोड है। हम भारतवासी उनको कृतज्ञता के भार मे दबे हुए हैं। उन्होंने हमें इतना ज्यादा दिया है कि सम्हाले नहीं सम्हल पा रहा है। समूचा विश्व बापू के कारण हमारे सौभाग्य से ईर्ष्या कर रहा है। ईश्वर हमें सद्बुद्धि दे कि हम उनके बताये माग पर चल सकें। गांधी-मार्ग ही हमारे और समूचे विश्व के कल्याण का माग है। यदि हम कहीं इस माग से विचलित हो गये तो इतिहास हमको क्षमा नहीं करेगा और भावी पीढ़ियां हमको कोसेंगी। भगवान् हमको पर्याप्त बल, साहस और विवेक प्रदान करे।

वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास

शशिभूषण सिंहल

हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास को संवार कर नवीन रूप प्रदान करने का श्रेय वृन्दावनलाल वर्मा को है। वर्मा अपने रचना-परिमाण, इतिहास विषयक अपनी परिपक्व धारणा तथा स्फूर्तिमय जीवन-दृष्टि के कारण इस क्षेत्र के प्रकाश-स्तंभ बन गए हैं। उनके सन् १९६४ तक प्रकाशित बारह ऐतिहासिक उपन्यास हैं। वर्मा का रचना-काल अब चालीस वर्षों का हो रहा है। गत बीस वर्षों में उनकी लेखनी विशेष सक्रिय रही है। उनकी रचनाओं का काल-पट विशद है, वह उत्तर वैदिक काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक फैला हुआ है।[1] इन रचनाओं में भारत के मध्ययुगीन इतिहास की अभिव्यक्ति हुई है। पाद-टिप्पणी में दी गई तालिका से स्पष्ट है कि वर्मा का मन उत्तर मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक रमा है। भारतीय इतिहास का युग-विभाजन स्थूलरूप से हिन्दू, मुस्लिम तथा अंगरेज़ी शासन-काल के अन्तर्गत करना उपयुक्त है। इन शासनों के अनुसार क्रमश: भारतीय इतिहास के प्राचीन मध्य तथा आधुनिक काल आते हैं। भारत का मध्यकाल अन्य देशों के मध्यकाल की अपेक्षा अधिक दीर्घ है। इसका प्रारंभ अन्तिम प्रमुख हिन्दू शासक पृथ्वीराज चौहान के पतन से माना जाता है और इसका प्रसार अंगरेज़ों के आगमन काल तक है। युग-प्रवृत्ति की दृष्टि से यह काल सन् १८५७ के भारतीय विद्रोह तक प्रच्छन्न रूप से चलता है। उस विप्लव के उपरान्त राजनीतिक तथा सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का रूप बदल जाने के कारण आधुनिक काल का वास्तविक प्रारंभ होता है। 'भुवन विक्रम' को छोड़कर वर्मा के शेष सभी उपन्यास इस सुदीर्घ मध्यकाल के चित्रण-कार्य में संलग्न हैं।

अतीत के झरोखे से वर्तमान में —

वर्मा भारतीय संस्कृति के प्रेमी, आस्थावान कलाकार हैं। वे दृष्टिकोण में सतर्क और संतुलित हैं। इतिहास उन्हें उत्तेजित नहीं करता, गंभीरतापूर्वक सोचने—विचारने को विवश

---

१. वर्ण्यकाल की दृष्टि से वर्मा के उपन्यास इस प्रकार हैं—

(क) उत्तर वैदिक काल—भुवनविक्रम। (ख) तेरहवीं शताब्दी—गढ़ कुंडार।

(ग) पन्द्रहवीं शताब्दी—मृगनयनी। (घ) सोलहवीं शताब्दी—महारानी दुर्गावती।

(ङ) अठारहवीं शताब्दी—विराटा की पद्मिनी, कचनार, टूटे कांटे, अहिल्याबाई, माधवजी सिंधिया।

(च) उन्नीसवीं शताब्दी—मुसाहिबजू, झांसी की रानी—लक्ष्मीबाई, रामगढ़ की रानी।

करता है। उनका अतीत चिन्तन क्षण भर को भी वतमान का पल्ला नहीं छोड़ता। वे वर्तमान की समस्याओं और प्रश्नों को लेकर अतीत में विचरते हैं और वहाँ से गारा-मिट्टी सजोकर भविष्य की आशाओं के महल खड़े करते हैं।२ इतिहास को वतमान के लिए अपनाने पर भी वे इतिहास के प्रति न्याय बरतना नहीं भूलते। वे उपन्यास में जीवन-सत्य को प्रस्तुत करते समय उसके बाह्य शरीर-इतिहास को विश्वसनीय, प्रामाणिक बनाते हैं। वे तथ्यों के शोध उपयुक्त चयन तथा आकलन में तत्पर रहते हैं।

वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों के कथा-स्रोत ख्यात इतिहास, स्थानीय इतिहास, अवशिष्ट वातावरण तथा लोक-कथायें हैं। इनमें वे अपनी कल्पना का योग देते हैं। उनकी कल्पना जीवन की अनुभूत घटनाओं से अधिक प्रभावित रहती है। वे इतिहास से खोज बीनकर-तथ्य जुटाते हैं और उन्हें विचार, विवेचन, कल्पना से कार्य-कारण-शृंखला प्रदान करते हैं। विदेशी या उनसे प्रभावित इतिहासकारों द्वारा 'तोड़े-मोड़े' गये तथ्य उन्हें यथावत् ग्राह्य नहीं हैं। वे उनके स्थान पर परपराओं तथा किम्वदन्तियों का भी मन्थन कर आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं।३ राष्ट्र के उत्थान पतन को दृष्टि से लिखे गए इतिहास अनेक मानव तत्व से युक्त घटनाओं तथा उल्लेखनीय सजीव व्यक्तियों को उपेक्षा कर देते हैं। ऐसी अंधकारवेष्टित सामग्री को वर्मा ने जिला—'गजेटियरों' आदि 'स्थानीय इतिहास' के साधनों से संचित किया है। वे ऐतिहासिक प्रसंग के घटना-स्थल पर जाकर वहां के वातावरण में अवशिष्ट विगत तत्व को देखते-परखते और ग्रहण करते हैं। उनके अधिकांश उपन्यासों का रंगमंच

२ वर्मा स्वयं लिखते हैं—'प्राचीन में कुछ बहुत अच्छा था, कुछ बुरा। बुरे के हम शिकार हुए। अच्छे ने हमें सर्वनाश से बचा लिया। क्या वर्तमान और भविष्य के लिए हम प्राचीन से कुछ ले सकते हैं? प्राचीन की गल्तियों से बच सकते हैं। वर्तमान का हर एक क्षण भूत और भविष्य में परिवर्तित होता रहता है। कोई किसी से अलग नहीं। (सोचा) इन्हें भलीभाँति देखो परखो और विश्लेषण की विधि अपनाकर पढ़ो। निश्चय किया कि वर्तमान की समस्याओं को लेकर प्राचीन में रम जाओ और उपन्यास, के रूप में जनता के सामने अपनी बातों को रख दो।'

—'आजकल' (मासिक, जुलाई, १९५७) –पृ० १८।

३ परदेसियों के तोड़, मरोड़ कर लिखे हुए इतिहास पटके खाए हुए उस चमकते हुए टीन के कनिस्टर के समान हैं, जिसमें सुन्दर से सुन्दर चेहरा अपने को कुरूप और विकृत पाता है। परन्तु परपरा अतिशयता को गोद में खेलती हुई भी सत्य की ओर संकेत करती है। इसलिये मुझको परंपरा इतिहास से भी आकर्षक जान पड़ती है।

—'कचनार' (परिचय) पृ० ६।

बुंदेलखंड[४] का भूभाग रहा है। बुंदेलखंड के आज के वातावरण में भी एक विशेषता है— उसमें पुरातन की गंध। वहाँ के निवासी आधुनिक नागरिक सभ्यता से अब तक प्रायः अछूते हैं। वे अपने पुरखों के स्थान में बसे हुए, पुरातन परम्पराओं को पैतृक सम्पत्ति की भाँति हृदय-कोश में सजोये चले आ रहे हैं। वे निर्धन हैं, अपढ़ हैं और आज के युग की दृष्टि में पिछड़े हुए भी, किन्तु उनकी गाठ में हैं राजा, सामन्तों और बुंदेलखंडी साधारणजन की शौर्य, स्वामिभक्ति और स्वाभिमान की 'सनक' की अटूट कथायें। बुंदेलखंड में यत्र-तत्र बिखरे हुए ऐतिहासिक भवनों, स्मारकों और मूर्तियों के भग्नावशेष भी विगत को पुनर्जीवित करने में सहायक हैं। निर्जन खंडहरों की जीर्ण ऊंची-नीची दीवारें, आकाश से आंख-मिचौनी करती टूटी-फूटी छतें, ध्वस्त बुर्जें, उनमें विचरते वन्य पशु, पास बहते नदी-नाले, टौरियाँ-पहाड़ियाँ और जंगल भावुक कथाकार के कान में, अपनी मूक भाषा में बहुत कुछ कह देते हैं। इस वातावरण में रम कर वृन्दावनलाल वर्मा की उर्वर कल्पना गत युग के सजीव, साकार स्वरूप का पुनर्निर्माण करने में सफल हुई है। स्पष्ट है, वर्मा इतिहास के मूल स्वरूप की यथासाध्य रक्षा करते हुए उसे अपने अनुभव अनुभूति से स्वस्थ, सप्राण बनाते हैं और कल्पना का रंग देकर उसे गति प्रदान करते हैं

वर्मा ने अपने उपन्यासों में इतिहास का उपयोग जिस विधि से किया है, उसका विधिवत विकास द्रष्टव्य है। उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास 'गढ़ कुंडार' में इतिहास को गौण स्थान दिया है, वह चर्चा मात्र के रूप में स्थान पा सका है[५]। उनकी दृष्टि मुख्य रूप से तत्कालीन समाज पर है। वे उपन्यास में वर्णित खगारों के पतन की उत्तरदायी तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को ठहराते हैं[६]। वर्मा स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि वे ऐतिहासिक उपन्यासों में

---

४ बुंदेलखंड भारत के उत्तरी भाग में वह भूखंड है जिसके उत्तर में यमुना नदी, उत्तर पश्चिम में चंबल, दक्षिण में नर्मदा नदी तथा सागर, जबलपुर के डिवीज़न और दक्षिण पूर्व में रीवां या बघेलखंड तथा मिर्जापुर की पहाड़ियाँ हैं।

५ इस उपन्यास की घटनाओं के परिचय के लिए और कुछ लिखने की आवश्यकता न होती, परन्तु उसमें यत्र-तत्र तत्कालीन इतिहास की चर्चा है, इसलिये यहां थोड़ा-सा परिचय देने की आवश्यकता जान पड़ी।—'गढ़ कुंडार' (परिचय)—पृ० १।

६ उनके (खगारों के) पतन की ज़िम्मेदारी उनके निज के दोषों पर कम है, उसका दायित्व उस समय के समाज पर अधिक है।—'गढ़कुंडार' (परिचय) पृ० ४।

समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं और उस चित्र में सामाजिक समस्याओं को उभारना उनका उद्देश्य रहता है[७]। उन्होंने अतीत के सामाजिक चित्रण और विश्लेषण का आधार वर्तमान समाज को बनाया है। वे अतीत की कोरी कल्पना न कर अनुभव में आने वाले समाज तथा व्यक्तियों से प्राप्य शाश्वत तत्व से उसे प्रामाणिक, वास्तविक बनाते हैं। इसीलिए उनके ऐतिहासिक वृत्त और पात्र अपने वर्तमान सादृश्य रखते हैं[८]। वर्मा अपनी 'तथ्यात्मक कल्पना' को इतिहास के ही समकक्ष मानते हैं[९]। वे किसी घटना के कहीं घटित होने के कारण उसे स्वाभाविक तथ्य के रूप में ग्रहण कर उसका ऐतिहासिक उपन्यासों में निस्संकोच, आवश्यकतानुसार उपयोग कर लेते हैं। ऐसे प्रयोगों में वे घटना की तारीख, स्थान तथा उसके कर्ता पात्रों के नाम को कार्य का बाह्य आवरण मान कर महत्व नहीं देते। उनकी दृष्टि घटना में निहित काल निरपेक्ष मानव-तत्व पर रहती है। वे सहज ही घटना और उसके पात्रों को नाम, तारीख, स्थान से बंधन-मुक्त कर अपनी ऐतिहासिक कथा में उसे यथारुचि पिरो लेते हैं। वर्मा अपने उपन्यासों में कोरी कल्पना की अपेक्षा इस तथ्यात्मक कल्पना को अधिक

---

७ मैंने ऐतिहासिक उपन्यासों में सामाजिक, चित्रण केवल कथा निर्वाह या 'क्रियेशन आफ द एटमास्फियर' के लिए ही नहीं किया है, वरन् सामाजिक समस्याओं को दृष्टि में रखते हुए भी, और इस मामले में मैं स्काट, ड्यूमा, ह्यूगो, नट हम्ससन से अलग हूं।

—वर्माजी का पंक्तियों के लेखक को पत्र, ता० २३ नवम्बर, सन १९५०। पूरे पत्र के लिए देखिए' उपन्यासकार वृन्दावन लाल वर्मा के पृ० २८५, २८६

८ उपन्यास में वर्णित चरित्रों के वर्तमान सादृश्य प्रकट करने का इस समय लेखक को अधिकार नहीं—'गढ कुंडार' (परिचय) पृ० ४।

—उपन्यास-कथित घटनाएँ सत्यमूलक होने पर भी अपने अनेक कालों से उठाकर एक ही समय की लड़ी में गूँथ दी गई हैं,—'विराटा की पद्मिनी' (परिचय) पृ० २।

९ 'कचनार' के ऐतिहासिक पहलू के संबंध में मुझको उतना संकोच नहीं है। उपन्यास में वर्णित सब घटनाएं सच्ची हैं। केवल समय और स्थान का फेर है —'कचनार' (परिचय) पृ० ५।

महत्व देते हैं१०। प्राप्य तथ्य को कल्पना में सजीव कर उसे वे कथा का रूप दे देते हैं११।

वर्माजी इतिहास के इतिवृत्त के तल से, अतीतकालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तत्वों को विधिवत् खोज निकालना उपन्यासकार के लिए आवश्यक मानते हैं।१२। उनकी रुचि का विषय जन-साधारण है, उसकी संस्कृति और मानस का वे राजनीतिक परिस्थितियों के प्रकाश में अध्ययन करते हैं१३।

---

१० कुछ दिन हुए इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध साहित्यकार हैरल्ड निकल्सन ने उपन्यास और कहानी के भविष्य के बारे में एक बड़ी कँटीली भविष्यवाणी की है। कहता है कि इसका कोई भी भविष्य नहीं है। फिक्शन के सबध में है उसका यह कहना अर्थात कल्पना महज़ कल्पना— के आधार पर सृजे हुए साहित्य के बारे में। शुरू से ही मेरा स्वभाव तथ्यों की खोज और उनके आधार पर लिखने का रहा है। मेरा एक सूत्र है, अंग्रेजी में –क्रिएटिव ट्रीटमेन्ट आफ एक्चुअलिटी—तथ्य या वास्तविकता की सृजनात्मक रचना। इसलिए हर उपन्यास या कहानी में कोई न कोई छोटी बड़ी समस्या लुके-छिपे या कुछ खुले हुए रख देता हू।—वर्माजी का पत्र ता० २८ जनवरी, १९५६—देखिए 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा' पुस्तक का पृष्ठ ३०१।

११ उपन्यासों की औपन्यासिकता यानी कहानी वह है जिसमें कहानीपन हो, सो आप (मेरे) हर उपन्यास में पायेगे—

फैक्ट मेड टु एपियर फिक्शन
एंड फिक्शन मेड टु एपियर फैक्ट
दैट इन शार्ट इज़ माई क्रेफ्ट

—वर्माजी का पत्र, ता० १२ जुलाई, १९५१ (दे० 'उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा'— पृ० २९५)।

१२. राजनीतिक स्थिति में चाहे वह वर्तमान की हो अथवा भूतकालीन, आर्थिक सामाजिक और धार्मिक तत्व तथा प्रश्न घुले-मिले रहते हैं।—'माधवजी सिंधिया' (परिचय), पृ० १।

१३. 'टूटे काँटे' की मूल कथा का सार बहुत समय से मन को कोंच रहा था। यथेष्ट सामग्री प्राप्त करने की लालसा में प्रकाशित ग्रंथों को, जो मेरी पहुच के भीतर थे, टटोला तो उनसे सतोष नहीं हुआ।—शासन की अव्यवस्था इत्यादि के प्रसग तो इतिहास में कम-बढ़ ब्योरे के साथ मिले, परन्तु जन-साधारण की आर्थिक स्थिति, जन-संस्कृति का उतार-चढ़ाव और जन-मन की प्रगति का वर्णन, विश्लेषण हाथ न पड़ा।—'टूटे काँटे' (परिचय) पृ० १।

वर्मा की ऐतिहासिक विकास क्रम में आस्था

वृन्दावनलाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में जिस युग का चित्रण किया है उसका घोर पतन लक्ष्य कर पाठक का सिहर उठना स्वाभाविक है। उनका उद्देश्य अवसादमय अतीत में रम कर रह जाना नहीं है। वे अतीत का अग्राह्य चित्रित कर पाठकों को उसके ग्राह्य के प्रति सजग करना चाहते हैं। वे ग्राह्य-प्रकाश को उभारने के लिए अग्राह्य रूपी अंधकार को पृष्ठभूमि में रखना आवश्यक समझते हैं। उनका मत है, उनके वर्ण्य युग में मनुष्य की निम्नतम ही नहीं उसकी उच्चतम वृत्तियों के भी दर्शन होते हैं[१४]। सृष्टि-क्रम की अखंडता और मानव की सामर्थ्य में वर्मा की अटूट आस्था है। ऐतिहासिक विकास-क्रम की कुछ जर्जर कड़ियाँ देखकर वे हतोत्साहित नहीं होते, ये उनकी दृष्टि में अल्पकालीन और अस्थायी हैं। इनके गहन तल में जो अजस्र जीवनधारा प्रवाहित है उसमें पैठकर उसे समझने तथा उससे सामर्थ्य-संचय करने में वर्मा संलग्न रहते हैं। वर्माजी की इस धारणा के स्पष्टीकरण के लिए उनके उपन्यास 'भुवन विक्रम' में व्यक्त दृष्टिकोण का सविस्तार उल्लेख यहाँ उपयुक्त होगा। वे लिखते हैं—'विकास का क्रम अनन्त है और मानव की वह ओजस्विता भी। किसी-किसी युग में विकास क्रम में कुछ कड़ियाँ सड़ी गली और निर्बल भी दिखलाई पड़ती हैं[१५]—हमारे ही देश में नहीं, पृथ्वी के अन्य भागों में भी। इनके होते हुए भी मानव विकास-मार्ग पर अग्रसर होता रहता है, भले ही समीचीन रूप से वह दिखलाई न पड़े। मानव संपूर्णतया कभी अशक्त नहीं होता हो नहीं सकता—यदि ऐसा हो तो सृष्टि का कार्य खंडित हो जाय। हमें अपने समाज में जो कुछ भी शिथिलता, अकर्मण्यता और ऊँचे आदर्श के प्रति गतिहीनता दिखलाई पड़ती है, वह विकास के क्रम की एक कड़ी मात्र है जो चिरकाल तक नहीं रह सकती।—

---

१४. —मालकम ने अपने 'मेमोयर्स' में सही लिखा है कि वह समय, भारत के इतिहास में, मनुष्य की नीची से नीची और ऊँची से ऊँची वृत्तियों की पराकाष्ठा का था—'कचनार' (परिचय) पृ० ६।

१५. समाज में जब विभ्रम और भय का घुन लग जाता है, आस्था निर्बल हो जाती है, संकल्प चंचल हो उठता है, पर-शोषण बढ़ जाता है, अहंकार दंभ और असृत के हठ की बाढ़ आ जाती है तब विकास-क्रम की कड़ी गलित दिखलाई पड़ने लगती है।—'भुवनविक्रम' (परिचय)—पृ० २।

'—अपनी कठिनाई स्पष्ट समझ में आ जाए और मतिविभ्रम न हो तो दृढ़ संकल्प के आश्रय से मनुष्य अवश्य आगे बढ़ सकता है।१६'

प्रेरणास्रोत—'राजदर्शीपात्र और रोमांस'

वर्मा इतिहास के विकास-क्रम की जर्जर कड़ियों के मूल कारण पर प्रकाश डालकर अपनी रचनाओं द्वारा पाठकों को जीवन में स्वास्थ्य एवं गति लाने की प्रेरणा देते हैं। उनके उपन्यासों में प्रेरित करने वाले मुख्य सूत्र दो हैं—एक, प्रकाश-स्तंभ ऐतिहासिक महान् पुरुष या नारी-पात्र, दूसरा, ताज़गी, स्फूर्ति देने वाला रोमांस। समाज व्यवस्था एवं शान्ति-स्थापना की दृष्टि से क्षत्रिय का धर्म सर्वोपरि है। क्षत्रिय से तात्पर्य है, शासन और राजनीति का सूत्रधार व्यक्ति। वर्मा ने समाज सेवी नेता को 'राजदर्शी' की संज्ञा दी है।१७ ऐसे महापुरुषों को वे प्रेरणा-स्रोत के रूप में उपन्यासों में प्रस्तुत करते हैं। वे 'राजदर्शी' पात्रों को उपन्यासों में चित्रित करते समय तन्मयतावश उनके ऐतिहासिक चरित्र को जीवनी का रूप दे बैठते हैं। वर्मा के उपन्यासों, झांसी की रानी—लक्ष्मीबाई, मृगनयनी, अहिल्याबाई, माधव जी सिंधिया, रामगढ़ की रानी तथा महारानी दुर्गावती में यह तथ्य भली भांति स्पष्ट है।

वर्मा जीवन के दिग्दर्शन के लिए जीवनी-तत्व का आश्रय लेते हैं और जीवन को सजीव बनाने के लिए 'रोमांस' का। रोमांस शब्द का यहां विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किया जा रहा है। इस अर्थ के स्पष्टीकरण से पूर्व रोमांस के पूर्व-प्रचलित रूप का परिचय देना आवश्यक है। रोमांस अंगरेज़ी के पुराने साहित्य में उपन्यास की एक पूर्वज विधा के रूप में था। रोमांस एक विलक्षण कथा होती थी। यह कथा साधारण जीवन से दूर की और कल्पना प्रधान थी। इसमें प्रेम, साहस, शौर्य की स्वाभाविक, अस्वाभाविक-अति कल्पनारंजित-घटनाओं का बाहुल्य रहता था। अपनी स्वच्छन्दता, अव्यावहारिक स्वप्निल उड़ान के कारण रोमांस को यथार्थजीवी उपन्यास से भिन्न विधा माना गया है। रोमांस असाधारण चमत्कारपूर्ण कथा है। यह

---

१६. 'भुवन विक्रम' (परिचय) पृ० १ तथा २।

१७. जर्मनी का संगठन करने वाले विख्यात बिस्मार्क ने राजनीतिज्ञ और राजदर्शी में यह अन्तर बतलाया था कि राजनीतिज्ञ आने वाले चुनाव की चिन्ता में ग्रस्त रहता है, परन्तु राजदर्शी आने वाली पीढ़ी के कल्याण की बात सोचा करता है—ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि राजदर्शी वह जो भेड़ के बाल काटे और राजनीतिज्ञ वह जो भेड़ की खाल खींच डालने पर ही जुट पड़े। —'माधव जी सिंधिया' (परिचय)—पृ० १।

पाठकों को अपने नवीन वातावरण और कल्पना से उत्तेजना और स्फूर्ति प्रदान करती है। इस विधा से मानव-चरित्र तथा समाज के गंभीर चित्रण की आशा नहीं की जा सकती।

वर्मा का 'रोमांस'—स्फूर्ति

वर्मा के प्रसंग में 'रोमांस' शब्द का विधा के रूप में नहीं वरन् एक प्रवृत्ति विशेष के अर्थ में प्रयोग किया जा रहा है। रोमांस वर्मा की जीवन सबंधी धारणा का एक अंग है, यह उनकी एक दृष्टि है। उनकी रोमांस विषयक परिकल्पना में असाधारण, अलौकिक, अव्यावहारिक तत्व की स्वीकृति नहीं है। उनका रोमांस रोज़-मर्रा के एकरस जीवन को ताज़गी, नवीनता स्फूर्ति प्रदान करना है। उसका साधन साधारण, सरल नित्य का चिर परिचित जीवन है। इसी स्वाभाविक भूमि से वर्मा ने विवेक, संतुलन कर्मठता तथा अन्तर्दृष्टि द्वारा रोमांस के प्रेरक तत्व जुटाये हैं। उनके रोमांस की यदि एक शब्द में व्याख्या की जाए तो उसका अर्थ है—स्फूर्ति। वे मानव जीवन को विविध अवयवों द्वारा स्फूर्ति प्रदान करना चाहते हैं। उनका रोमांस जीवन से कहीं दूर नहीं, जीवन में ही है, अपनी मिट्टी, अपने चारों ओर की प्रकृति, अपने समाज में है। वह पलायन नहीं करता, कर्मठ बनने की शक्ति देता है कार्य-परिवर्तन द्वारा। इस कार्य परिवर्तन में ताज़गी रहती है।[१८]

स्फूर्तितत्व—(क) मानव के अन्तर में

मानव के पीड़ित जीवन में आनन्द की एक झलक लाने के लिए, उसे रोमांस, स्फूर्ति देने के लिए वर्मा उसी के अन्तर में पैठते हैं। उमंग का नित्य-स्रोत मानव के हृदय में ही

---

१८. वृन्दावनलाल वर्मा स्वयं अपने १२ जुलाई, १९५१ के पत्र में लिखते हैं—'अच्छी नींद के बाद सवेरे की अरुणिमा देखने के लिए जी क्यों ललचाता है? चलते रास्ते बगीचे के फूलों को देखकर एक क्षण ठहर जाने के लिए मन क्यों मचलता है? मानव प्रकृति मानव स्वाग तक अपनी तात्कालिक एकरूपता (मानोटनी) पर हावी होने के लिए करता है। रोमांस इस प्रकृति का बड़ा साथी है। क्रिकेट और कबड्डी को देखकर बिना हाथ-पैर हिलाए आपका मन इन खेलों को खेलने लगता है, मन के ऊपर खेल से एक ताज़गी आती है, ताजगी से शक्ति। —यही उसका उपयोग है। यही कम से कम, उसकी एक प्रकट आवश्यकता है। —देखिये, उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा—पृ० २९५-२९६।

है, केवल उसे प्राप्त करने की आस्था चाहिए। नूरबाई (टूटे कांटे) की वृन्दावन पहुँच कर कृष्ण कन्हैया के जी भरकर दर्शन करने की चिर प्रतीक्षित इच्छा पूरी होती है। वह युग घोर संकटों और पीड़ाओं का है। स्वयं नूरबाई ने न जाने, जीवन के कितने उतार-चढ़ाव देखे हैं और वह अपने विगत की ग्लानि में गली जा रही है। कृष्णमूर्ति की मोहिनी छवि के एकाग्र दर्शन ने उसे अपूर्व जीवन अवलम्ब प्रदान किया है। उसकी आख्या ने उसे जो स्फूर्ति दी है, वह द्रष्टव्य है। वह सोचती है—'यह कन्हैया' की प्रतिमा है। मनुष्य ने अपनी छोटी-सी सीमित कल्पना द्वारा उसकी झिलमिल झांकी की एकाध रेखा को जितना पकड़ पाया उतनी को खड़ा कर लिया। आहत जीवन, फटे-टूटे दिल, क्षतविक्षत मानस, निराश्रय-दरिद्रता दलित मान, घायल की आह, और बेपनाहों की कराह को, निपट अंधेरे में, जितना और जैसा दिखलाई पड़ गया उसी को छाती से लगा लिया। और यदि हम इसको न मानें, कह दें कि किसी बड़े पहाड़ का यह छोटा-सा टुकड़ा ही तो है, तो? तो फिर अथाह की थाह कैसे मिलेगी? जलते हुओं को शीतल जल कहाँ से प्राप्त होगा? जिन को दर्द के मारे कभी चैन नहीं मिलता, कभी नींद नहीं आती, हर तरह के डर के मारे जिनका रोम रोम प्रत्येक क्षण थर्राया करता है, जो सदा मौत को सिर पर खड़ा देखकर न तो जीवन के रस को समझ पाते हैं, न उसका आस्वादन कर पाते हैं और न मरने की घड़ी में शान्ति को छू पाते हैं—न सावन हरे न जेठों पीले, और जो कभी भी यह नहीं समझ पाते कि उजाला क्या है और अंधेरा क्या है, या, उन दोनों के बीच में कुछ है, उनके सिर पर कौन हाथ फेरेगा? उनकी पीठ पर कौन हलकी-सी थपकी देगा? कौन उनके कांटों को सहने योग्य बनाएगा? कुछ सामने दिखलाई पड़ने वाला, कोई स्वप्नों में मुस्कराने वाला, कोई कान में सदा-सर्वदा मीठी तानें सुनाने वाला।१९'

(ख) मानव का अन्तर और प्रकृति

वर्मा जीवन जीने की, और जीने के लिए विषम परिस्थितियों से भी जूझने की प्रेरणा देते हैं। संघर्षरत मनुष्य को अटूट शक्ति देने के लिए वे उसे आस्थावान बनाना चाहते हैं और उसके हृदय को निर्विकार कर, उमंग से ओतप्रोत कर देना चाहते हैं। स्वार्थ एवं अहम् भावना के कारण मनुष्य अपना सहज रूप खो बैठा है। वह निज की वृत्तियों में सामंजस्य, संतुलन स्थापित न रखने के कारण समाज और प्रकृति में अपने आप को अकेला, अधूरा और

---

१९. 'टूटे कांटे',—पृ० ३२१ तथा ३२२।

उखड़ा-उखड़ा-सा पाता है। उसकी अन्त प्रकृति जिस समय व्यग्र और विरूप हो उठती है, उस क्षण वह उसे बाह्य प्रकृति के संयोग, सस्पर्श से धो मांज कर सहज, स्फूर्तिमय बना सकता है। प्रकृति का अर्थ ही है स्वाभाविक, जिसके निर्माण में मनुष्य का हाथ नहीं लगा है। मानव के मन की सहज वृत्तियाँ तथा उसके बाहर दीखने वाले पेड़-पौधे, पहाड़, नदी, नाले सूरज, चद्रमा, पशु-पक्षी आदि अपने प्रकृत स्वरूप में प्रकृति हैं। वर्मा का 'रोमांस' बाह्य प्रकृति से मानव-मन का योग करा कर मानव को सजीव, सशक्त बनाता है।[२०]

वर्मा के पात्र प्रकृति से जीवनदायिनी शक्ति किस प्रकार ग्रहण करते हैं उसका एक उदाहरण देखिए। दलीपसिंह ('कचनार') बीमारी से उठा है, दुबल और चिड़चिड़ा है। नव-विवाहिता पत्नी से मन का मेल न खाने पर अन्यमनस्क भी है। वह जंगल में शिकार खेलने जाता है और शिकार की उत्तेजना में मन-का अवसाद डुबा देना चाहता है। वह साथियों सहित जंगल में पहुँच गया। हँकाई हुई और उसे शिकार में जानवर मिलने की आशा बंधी। इस बीच में प्रकृति ने क्या चमत्कार किया देखिए—

'प्रभात हो गया। प्रकाश फैल गया। दलीप ने अपनी बगल में एक पेड देखा। पत्तों का नाम-निशान नहीं, परन्तु फूलों से लदा हुआ। चद्रमा की किरणों के समान सफेद रंगवाले फूल। वह पेड़ धीरे-धीरे इन फूलों को टपका रहा था।

'दलीपसिंह फूलों का टपकना देखता रहा। शीघ्र ही पेड़ के नीचे चौके से पुर गये। वह फूल बीनने के लिए अपने स्थान से उठा और पेड के नीचे पहुँचा। कुछ फूल उसके ऊपर भी टपके। धीरे-धीरे बड़ी-बड़ी बूँदों जैसे, चू-चू जाते थे। उसने उठाकर सूंघे। मोनी-मीनी महक थी।" इसी बीच उसके पास एक साभर आकर भाग गया। दलीपसिंह शिकार में जो पाने आया था, वह उसने सहज ही प्रकृति से पा लिया था। वर्मा लिखते हैं—

'सोने साह ने पूछा, 'आप के पास सांभर आया था, बन्दूक नहीं चलाई ?'

'दलीपसिंह ने कहा—'मैं उस पेड के नीचे फूल देखने उठ गया था। कैसा सुहावना है। क्या नाम है इस पेड का काकाजू ?'

---

२० प्रकृति की क्रियाओं में आतंक और सलोनापन दोनों हैं। मानव उस आतंक से भयभीत न होकर प्रकृति के सलोनेपन में से अपने मन के लिए शक्ति और पुरुषार्थ को खींचे तो वह निस्सन्देह अपनी उस स्वच्छ कामना को सफल कर सकता है जो उस प्रार्थना में व्याप्त है—मैं सौ-सौ शरद ऋतुओं को अदीन होकर देखता रहूँ।

—'भुवनविक्रम' (परिचय)—पृ० २।

'सोनेसाह हंसने लगा।

'बोला, 'राजा, इसका नाम व्याकुल है। कोई कोई इसको बेकल भी कहते हैं।'

दलीपसिंह ने कहा, 'व्याकुल? बेकल? बड़ा सुन्दर और कितना सार्थक नाम है। उसको चैन ही नहीं। कैसे फूल पर फूल टपकाये चला जाता है।' अंत में संध्या के समय सभी लोग थके, चिढ़े, घर लौटे—केवल दलीपसिंह अब भी प्रसन्न दिखलाई पड़ता था[२१]।'—

वर्मा के उपन्यासों में प्राकृतिक सौंदर्य और जन-मन के उल्लास के चित्र सहज, स्वाभाविक बन पड़े हैं। उनके चित्रण में प्रवाह और सादगी है। देखिए, सावन के दिन अनोखी मस्ती लेकर आए हैं। प्रकृति और पृथ्वी-पुत्र किसान, दोनों गतिशील हैं—'सावन लग गया। चारों ओर हरियाली का राज्य छा गया। पुरवाई बहने लगी। किसानों ने हल के मूठे पकड़े हुए सहरे गाये। नदी-नालों के नाद ने उनका साथ दिया।[२२] प्रकृति से, यह उल्लास ग्राम अथवा नगर में कहीं भी संचित किया जा सकता है। यहाँ असाधारण की अपेक्षा नहीं है केवल व्यक्ति की ग्राहक दृष्टि चाहिए। तड़का हो रहा है, यह पर-जीवी पुजारियों के प्रमाद-अवसाद का काल है, किन्तु अपने जीवन को नया मोड़ देने वाली, श्रमजीवी नूरबाई ('टूटे काँटे') को इसमें उमंग से उद्वेलित करने की क्षमता है—पौ नहीं फटी थी। क्षितिज पर अर्गल नहीं खिचे थे। चिड़िया नहीं चहकी थीं। मन्दिरों के पुजारी, जागते-सोते कुपच की डकारें ले रहे थे।

'झींगुर झंकार रहे थे। हवा चल उठी थी। ठंडक में गरमी और गरमी में ठंडक। नूरबाई जाग पड़ी। न अंगड़ाई, न जमुहाई, तारों पर बड़ी-बड़ी आँखें पसार दीं। लगा जैसे वहां कोई हो, कोई मुसकान वाला, कोई तान वाला। बिस्तर से उचट पड़ी। मोहन सो रहा था। जगाते हुए बोली, 'चलो यमुना जी में स्नान करेंगे।'[२३]

प्रकृति विश्व के क्रोड़ में रमी हुई साक्षात् कविता है। उसे देखने, समझने वाले का स्वतः उल्लास और गति प्राप्त हो जाते हैं। झील का जल और जल जीव दुर्गावती ('दुर्गावती') को 'रोमांस' प्रदान करते हैं— 'दुर्गावती ने थोड़ी दूर पर उत्तर पश्चिम में एक विस्तृत झील देखा। घेरा होगा उसका कोई बाईस-तेईस कोस। रवि रश्मियाँ उसमें स्नान कर रही थीं। सारसों के झुंड पंक्ति बाँधे उड़ते दिखलाई पड़े। सुनहली किरणें, नीला जल, वृक्षों की हरियाली और उड़ते सारसों की मोतियों जैसी चमक ने दुर्गावती की देह में स्फूर्ति भर दी।[२४]

---

२१. कचनार—पृ० ४२, ४३।

२२. कचनार—पृ० १६२। २३. टूटे काँटे—पृ० ३३१।

२४. महारानी दुर्गावती—पृ० १७०।

(ग) प्रणय

प्रणय—चित्रण वर्मा जी की रोमांस विषयक धारणा का प्रमुख अंग है। प्रणय में वे प्रेमी और प्रेमिका के मध्य एक दूरी का वातावरण बनाए रखते हैं। अत उनके रोमांस में चुभन, आवेग, सौजन्य और दृढ़ता आ विराजे हैं। प्रेमी और प्रिय के जीवनाकाश में विपत्ति, विछोह और आशंका के घुमड़ते-गरजते बादलों के मध्य प्रणय की रह-रह कर कौंध जाने वाली दामिनी पाठकों को विचित्र लालसा और टीस दे जाती है। प्रेमी और प्रेयसी को समीप लाते समय वर्मा द्रवित और सतर्क हो उठते हैं। ऐसी वेला में नारी का मूक निःशब्द, कोमल समर्पण है और पुरुष भी अत्यन्त विनीत, नियंत्रित, कोमल और दृढ़ है। दोनों की हृदय-गति मे संयम और स्थिरता है कि वासना का उद्दाम वेग वहाँ ठिठक-सा जाता है। प्रेमियों का हृदय हलकी हिलोरें लेता है जैसे नाव के आसपास मन्द-मन्द गुनगुनाता-सा जल। क्षुब्ध सागर के ज्वार-भाटे का वहां अभाव है।

स्त्री और पुरुष, सृष्टि में परस्पर पूरक और प्रेरक हैं। उनके समीप आने और सहयोग में स्फूर्ति है। संयम और संतुलन का पुट आ जाने पर उनकी इस स्फूर्ति मे स्थायित्व और नित्य नवीनता के तत्व आ जाते हैं। वर्मा के ये पात्र पहले शारीरिक सौन्दय और कर्मों के आकर्षण में बधते हैं। फिर प्रेम की भावना उनके मन की गहराइयों को छूती है और अन्त में आध्यात्मिक स्तर तक जा पहुँचती है। इस प्रकार की मुख्य प्रणय कथाये-दिवाकर-तारा (गढ़-कुंडार), कुंजर-कुमुद (बिराटा की पद्मिनी), दलीपसिंह-कचनार (कचनार) मानसिंह-मृगनयनी (मृगनयनी), मोहन-नूरबाई ('टूटे कांटे') आदि की हैं।[२५]

वर्मा की जीवनी लेखन-प्रवृत्ति

वर्मा की जीवन-लेखन-प्रवृत्ति की पहले संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है। इस प्रवृत्ति से प्रभावित होने वाले उपन्यासों में उनकी कथा एक पात्र को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर

---

२५ वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में अन्य प्रणय-कथायें इस प्रकार हैं—(गढ़ कुंडार) अग्निदत्त मानवती, नागदेव का हेमवती के प्रति आकर्षण, (झांसी की रानी लक्ष्मीबाई) खुदाबख्श – मोतीबाई, नारायण शास्त्री – छोटी, रघुनाथ सिंह-मुन्दर, (कचनार) मानसिंह—कलावती (मृगनयनी) अटल-लाखी (भुवन विक्रम) भुवनविक्रम – गौरी, (माधव जी सिंधिया) जवाहरसिंह—गंगा—माधवजी, (महारानी दुर्गावती) दलपतिशाह—दुर्गावती, मोहनदास-रामचेरी।

घूमती है। अनेक परस्पर असम्बद्ध प्रकरण जुट कर उस पात्र के व्यक्तित्व को चमकाते-सजाते हैं। ऐसे पात्रों को लेखक ने श्रद्धा से देखा है। इनकी प्राण-प्रतिष्ठा में उसने, उपन्यासकार की कम जीवनीकार और भक्त की दृष्टि से अधिक कार्य किया है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत वर्ण्य-पात्र के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व-प्रतिष्ठापन का प्रयास अधिक रहता है। यह पात्र स्थिर चरित्र का होता है, उसमें परिवर्तन नहीं आते। वह केवल कालानुसार परिस्थितियों के पथ पर यात्रा करता है। उसी यात्रा में उसका रूप निखता-सवरता चलता है। 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई 'अहिल्याबाई', 'मृगनयनी' 'माधवजी सिंधिया', 'रामगढ़ की रानी' तथा 'महारानी दुर्गावती' उपन्यासों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

वर्मा का, अब तक, अन्तिम प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास 'दुर्गावती', उनकी रोमांस तथा जीवनी संबधी प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है। इस दृष्टि से उक्त उपन्यास का विश्लेषण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। इसकी आधिकारिक कथा के तीन विकास-बिन्दु हैं।

१—दुर्गावती—दलपतिशाह का प्रणय, मिलन-योजना, दुर्गावती का हरण, योजना की सफलता (परिच्छेद १ से १३ तक)

२—दुर्गावती का वैवाहिक जीवन। (परि० १४ से १९ तक)

३—दलपतिशाह का मृत्यु के उपरान्त दुर्गावती का राज्य-संचालन, आक्रमणकारियों से युद्ध और मृत्यु। (परि० २० से २५ तक)

'महारानी दुर्गावती' का प्रवृत्तिगत विश्लेषण

उपन्यास की कथा के प्रथम भाग में रोमांस है प्रणय का, इसमें आकुलता और अनिश्चय है। द्वितीय भाग में प्रेमी-प्रेयसी का मिलन है किन्तु उसमें संयम और नियमन है 'मृगनयनी' उपन्यास जैसा। अन्तिम भाग में संघर्ष है, नेतृत्व है 'झांसी की रानी' की भांति। दुर्गावती का प्रखर व्यक्तित्व इस अन्तिम भाग में विशेषरूप से प्रकट होता है, यद्यपि उसके आधार-सूत्रों को उपन्यासकार प्रारम से ही सतर्कतापूर्वक सजोने में संलग्न है। वर्मा जिन प्रसंग-सूत्रों के योग से कथा—निर्माण करते हैं उनका 'दुर्गावती' में विश्लेषण और वर्गीकरण करने से स्पष्ट हो जाएगा कि उनके प्रिय प्रसंग-सूत्र कौन से हैं और उन सबका प्रवृत्ति-गत सयोजन इस उपन्यास में किस प्रकार हुआ है।

'दुर्गावती' में प्रयुक्त वर्मा के प्रसंग सूत्र मुख्य रूप से चार वर्गों में विभाज्य हैं।

१—वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के आधार-सूत्र

(क) राजनीति चर्चा (पृ० २१, ३०, ६४, ११४, १९६, २३४, २५३, २७१)
(ख) जाति-पाँति विषयक रूढ़िवादिता (३५, ४२, ५१, ७६, १०३, २०२)
(ग) योजना—पूर्ति के लिए मंत्रणा (१०५, १२५, १२८, २५७, २७१, २८६)
(घ) युद्ध (१९८, २११, २१८, २४६, २६६, ३०१, ३१०, ३१४, ३२४)
(ङ) खल-पात्र (१३५, १३९, १४६, २०३, २८१, २८४, २९९, ३०८)
(च) राजा (१, ३५, ४३, ११९, २२७, २७३)
(छ) षडयन्त्र—विश्वासघात—(२१४)

२—रोमांस सूत्र

(क) लोक-जीवन—मेला, पृ० १ , लोक नारी, ३, ६, १५८ , लोक नृत्य, १६८, २८० , लोक-मत, १८७ , किसान, २०९ , त्यौहार, २३३ , लोक-कथा, २५२ ।
(ख, नारी—शौर्य—४, सौन्दर्य और स्वास्थ्य, ८, युवती-विनोद, ११, ६३, १४७।
(ग) देव-पूजन—२७, १९९। (घ) प्रणय—१६, ७१, १४४, १४९, १५५, १६४, १८९।
(ङ) शिकार—१, ८१, ५१, ५४, ७९, ८४, १२३।
(च) प्रकृति—८७, चित्रकला—११, संगीत १२५।

३—जीवनी-वृत्ति

नायिका का व्यक्तित्व—

(क) कुल तथा राज्य के पारंपरिक गौरव में रुचि, राज्य के विषय में जानने की इच्छा, सेवा-कार्य की आकांक्षा—१६७, १९०, २४०, २४९।
(ख) न्याय भावना—२२९।
(ग) निर्भीकता, दृढ़ता, आत्मविश्वास—२२७, २६३, २६७, २८८।
(घ) नेतृत्व शक्ति—२४७, २९५, ३१९।

४—अन्य कथा-सहायक गौणसूत्र—

निमंत्रण—४८, पत्र- ४९, सुरंग—१२२, १४२, लक्ष्यवेध—१३०, खोज—१५१ स्वागत—१५८, विवाह—१६२, शिशु—२२१, दुखद समाचार—२२२ तथा मृत्यु—२३६।

ग्रंथ समीक्षा

दीनबन्धु एण्ड्रूज (चार्ल्स फ्रियर एण्ड्रूज़ का जीवन-वृत्त)—मूल के लेखक—मार्जरी साइक्स एव बनारसीदास चतुर्वेदी, अनुवादक—प्रकाशचद्र चतुर्वेदी, प्रकाशक—शिवलाल एण्ड कम्पनी, आगरा—३, १९६७ ई०, पृ० सं० ३६८, मूल्य दस रुपये।

पुण्यश्लोक चार्ल्स फ्रियर एण्ड्रूज़ (१८७१-१९४० ई०) को देशवासी दीनबन्धु-एण्ड्रूज के नाम से जानते हैं। दीनबन्धु नाम महात्मा गान्धी ने दिया था। एण्ड्रूज़ महाशय सन् १९०४ में तेतीस वर्ष की अवस्था में भारत आए। भारत में आने के पहले वे केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्यापक थे। भारत पहुँचकर कुछ वर्ष एण्ड्रूज़ दिल्ली के सेंट स्टीफेन्स कालेज में अध्यापक रहे। सन् १९१२ में पहली बार एण्ड्रूज़ को रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लन्दन में भेंट हुई। तभी से गुरुदेव के साथ उनकी मित्रता बढ़ती गई, पहली बार सन् १९१३ में वे शान्तिनिकेतन आए और गुरुदेव के विद्यालय को देखकर उनका मन आनंदित हुआ और कुछ दिनों बाद वे शान्तिनिकेतन स्थायीरूप से चले आए। वहां वे अपने अत समय तक रहे। बीच-बीच में वे यात्राए करते रहे। प्रवासी भारतीय लोगों के लिए उन्हें कई बार फिजी-अफ्रीका की यात्राएं करनी पड़ी। महात्मा गान्धी से उनका पहला परिचय दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। अपने जीवन के छत्तीस वर्ष उन्होंने भारत मे बिताए और उनका प्रत्येक क्षण भारतवासियों की सेवा में बीता। अपने विषय में वे बिल्कुल लापर्वाह थे। प्रस्तुत कृति में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो उनके विशाल हृदय, उन्नत मन और लोकोत्तर सज्जन चरित्र का परिचय देते हैं।

भारतीय स्वतन्त्रता के लिए उनका काय महत्त्वपूर्ण रहा है। उनकी विचारधारा के सबध में स्वर्गीय प० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था कि "जब भारत के अनेक नेता डोमिनियन स्टेटस से ही संतुष्ट थे, मि० एण्ड्रूज ने इस देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता का समर्थन किया था।" जब भी कभी ऐसा अवसर आया जहां भारत के पक्ष को स्पष्ट रूप से रखने की आवश्यकता थी उन्होने साहसपूर्वक भारतीय पक्ष का समर्थन किया। भारत के संबध में फैली अनेक दुर्भावनाओं को तत्कालीन शासक वर्ग के समक्ष उन्होंने रखा। इग्लेण्ड जब भी वे जाते तो भारतीय स्वाधीनता के विषय में अनेक व्याख्यान देते, पत्रों में लेख लिखते और कभी कभी भारत विरोधी लेखों का वे प्रभावशाली ढग से प्रतिवाद भी करते। आज भारत और अंग्रेजों के बीच जसे मैत्रीपूर्ण सबंध हैं उनका बहुत कुछ श्रेय दीनबन्धु एण्ड्रूज जैसे उदार और भारतभक्त अग्रेजों को मिलना चाहिए। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गान्धी दोनों ही महापुरुषों का विश्वास एण्ड्रूज़ को प्राप्त था। वे दोनों के मित्र और भक्त थे। शान्तिनिकेतन में रहते हुए अध्यापन कार्य तथा व्यवस्था काय में बड़े मनोयोग से उन्होंने सहयोग दिया। हिन्दी के वे बड़े समर्थक थे। शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन की स्थापना के लिए उन्होंने बड़ा उद्योग किया था। उसका शिलान्यास भी उन्होंने ही किया था। शान्तिनिकेतन में एण्ड्रूज़ के स्मारक के रूप में एक छोटा सा चिकित्सालय है जहां आसपास के गांवों के दीनदुखी

लोग उपचार की सुविधा पाते हैं। उनका और कोई स्मारक कहीं है या नहीं पता नहीं, उनकी जीवनी भी किसी भाषा में नहीं निकली।

आदरणीय चतुर्वेदी जी एण्ड्रूज़ के निकट सपर्क में पूरे पचीस बर्ष रहे। शायद ही ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति हो जिसे यह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। चतुर्वेदी जी में दूसरों के गुण देखने, परखने, समझने और व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने एण्ड्रूज़ का जीवन वृत्त बड़े परिश्रम से लिखा था—मिस मार्जरी साइक्स का भी एण्ड्रूज़ से घनिष्ट परिचय था। दोनों ने ही दीनबन्धु को तटस्थ भाव से देखा है यद्यपि दोनों ही उनके निकट सपर्क में रहे। प्रस्तुत जीवन वृत्त में कहीं भी चरित नायक के प्रति अंध भक्ति या अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा नहीं मिलती। परिणाम यह हुआ है कि जीवनी अत्यंत सरस, और प्रामाणिक बन गई है और एण्ड्रूज़ के मानवीय गुणों और उदार व्यक्तित्व का पूर्ण परिचय उसमें हमें मिलता है। इधर हाल में एण्ड्रूज़ के पत्रों का एक संग्रह बंगला में अनूदित होकर विश्वभारती से प्रकाशित हुआ है। उनके कुछ अप्रकाशित पत्र शान्तिनिकेतन से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'विश्वभारती न्यूज़' में प्रकाशित हुए हैं। चतुर्वेदीजी की मूल अंग्रेजी कृति का प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद सुलभ हो जाने से हमारे वे देशवासी जो अंग्रेजी नहीं जानते इस महापुरुष के पावन चरित से अवगत हो सकेंगे और हमारा विश्वास है हर पाठक को दीनबंधु के चरित से शुभ प्रेरणा मिलेगी। हिन्दी भाषी राज्यों की सरकारों को चाहिए कि इस प्रकार के ग्रंथों को खरीद कर राज्य के ग्राम पंचायत, मण्डल पचायत के पुस्तकालयों जिला पुस्तकालयों तथा सब पुस्तकालयों और वाचनालयों में पहुचायें। सहज प्रवाहयुक्त शैली में अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए श्री प्रकाशचंद्र चतुर्वेदी को हम साधुवाद देते हैं।

रामसिंह तोमर

उर्वशी उपलब्धि और सीमा—लेखक—विजेन्द्र नारायण सिंह, प्रकाशक—परिमल प्रकाशन, १९४ सोहबतियाबाग, इलाहाबाद—६, दूसरा संस्करण, मई १९६७, पृष्ठ १३३, मूल्य—चार रुपये पचास पैसे।

'उर्वशी उपलब्धि और सीमा' कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'उर्वशी' पर लिखी गयी आलोचनात्मक कृति है जो उर्वशी पर प्रकाशित आलोचनात्मक कृतियों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। सम्पूर्ण पुस्तक सात अध्यायों (शीर्षकों) में लिखी गई है। प्रथम अध्याय में आलोचक श्री सिंहजी ने 'दिनकर' की कृतियों के विकासक्रम पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि 'हुँकार' का उत्साह 'कुरुक्षेत्र' में चरम बिन्दु पर पहुँचता है, 'रसवन्ती' की रति 'उर्वशी' में पूर्णता पाती है। अतः उर्वशी और कुरुक्षेत्र परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक ही नदी के दो किनारे हैं। इसी अध्याय में लेखक ने 'दिनकर' की पूर्ववर्ती कृतियों तथा 'उर्वशी' में प्रयुक्त समान प्रतीकों का भी उल्लेख किया है। दूसरे अध्याय

(कामाध्यात्म की कविता) में आलोचक ने धर्म और काम के संघर्ष की ओर संकेत करते हुए इस बात पर बल दिया है कि प्राचीन साक्ष्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि इन दोनों में काम की ही सर्वदा विजय होती है। इसका प्रतिपादन 'उर्वशी' में हुआ है। 'उर्वशी' पर पाश्चात्य विद्वानों लारेंस और रसेल के प्रभावों का भी उल्लेख विवेचनात्मक ढंग से किया गया है। वर्तमान युग की प्रणय-भावना तथा छद्म-प्रणय-भावना का इतना अच्छा व्याख्यान शायद ही कहीं उपलब्ध हो।

आलोचक ने 'शिल्प-योजना' में 'उर्वशी' की शिल्प-शैली की समालोचना प्रस्तुत की है। 'उर्वशी' के विभिन्न स्थलों का उल्लेख करते हुए आलोचक ने 'उर्वशी' के काव्य नाटक और अन्य रूपों पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'उर्वशी' का तीसरा अंक वार्तालाप (नाटय-शैली) की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है, परन्तु 'उर्वशी' की शिल्प-योजना काव्यात्मक है, नाटकीय नहीं। 'उर्वशी' की भाषा युगानुकूल है, लेकिन 'अन्धायुग' के पद्य-कौशल तथा नाटकीय-तत्व की तुलना में वह नगण्य है। दोनों काव्यों की तुलना करने के पश्चात् आलोचक ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'उर्वशी' की भाषा पुस्तकीय तथा बनावटी है, स्वाभाविक नहीं। कथनोपकथन में दिनकरजी स्व० मैथिलीशरण गुप्त से बहुत पीछे हैं।

'नाद, क्रिया और प्रतिक्रिया' में आलोचक ने पात्रों के प्रतीकात्मक अर्थ की आलोचनात्मक व्याख्या की है। पुरूरवा, औशनरी और उर्वशी के प्रतीकात्मक अर्थों तथा उनकी सफलताओं असफलताओं का अच्छा विवेचन हुआ है। 'कामायनी' की श्रद्धा से 'उर्वशी' की तुलना कर के यह निष्कर्ष निकाला है कि उर्वशी में वह प्रशान्ति नहीं जो प्रसाद की श्रद्धा को सहज प्राप्य है'। पुरूरवा और उर्वशी भारतीय संस्कृति के सनातन प्रतीक नर-नारी हैं। 'काव्यालोचन की समस्या और उर्वशी' में आलोचक ने डा० भगवतशरण उपाध्याय के 'कल्पना' में प्रकाशित विचारों और आक्रोशों पर कटु आक्षेप किया है। आलोचक ने डा० उपाध्याय जी के विचारों से जहां-जहां असहमति प्रकट की है, वह तर्कसंगत और उचित है।

अन्तिम अध्याय में आलोचक ने उर्वशी के महाकाव्यत्व, दार्शनिक-पक्ष आदि पर विचार व्यक्त किए हैं। 'दिनकर का समग्र दर्शन बासी ज्ञान का विश्वकोश है' इस वाक्य से श्री बिजेन्द्र जी ने उर्वशी में थोपे गए दार्शनिक विचारों की आलोचना की है। सब मिलाकर आलोचक ने उर्वशी को अपने युग की सबसे सशक्त रचना माना है। इस पुस्तक में आलोचक का सबसे बड़ा गुण है कि उसने 'उर्वशी' के गुण-दोष दोनों पक्षों पर समान रूप से सोचा है, इसलिए पुस्तक पाठकों को नए ढग से 'उर्वशी' पर सोचने के लिए प्रेरित करती है। आलोचक के सभी विचार स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं, तथापि उनका महत्व है। समीक्षा शैली अच्छी है, भाषा सरल और प्रभावशाली है। पुस्तक में मुद्रण संबंधी भूलें अधिक हैं। पुस्तक का आवरण चित्र श्री दीनानाथ सरोदे ने बनाया है जो सुन्दर है।

भारतीय संस्कृति के विविध परिदृश्य—लेखक-वृन्दावन दास, प्रकाशक—सुषमा पुस्तकालय, कृष्णनगर, दिल्ली—३१, प्रथम संस्करण, अगस्त १९६८ पृष्ठ ३५१, मूल्य दस रुपये।

आलोच्य कृति श्री वृन्दावन दास के ५१ लघु लेखों का संग्रह है। पुस्तक को लेखक ने सांस्कृतिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक, सामाजिक तथा विविध नामक पांच शीर्षकों में विभक्त किया है। लेखक ने विविध परिदृश्यों के माध्यम से भारतीय संस्कृति की गरिमा और महत्त्व को अभिव्यक्त किया है। इतिहास, साहित्य तथा समाज के आधार पर लेखक ने भारतीय संस्कृति के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है। यद्यपि पुस्तक अपने विषय और शीर्षक का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाती है तथापि इसमें जिन प्रश्नों और विषयों पर लेखक ने चिन्तन-मनन किया है वह बड़े ही सरल तथा बोधगम्य शैली में सुव्यवस्थित हैं इसलिए पाठक को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ेगा। जहां तक निबंधों में विचारों का प्रश्न है वहां यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि श्री वृन्दावन दास जी के सभी लेख अपने विषय का संक्षिप्त परिचय देते हैं अतः इन सभी लेखों को परिचयात्मक कहना अधिक उचित लगता है। इस पुस्तक से विस्तृत ज्ञान की अपेक्षा नहीं की जा सकती। लेखक ने भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा इतिहास के अतिरिक्त पाश्चात्य समस्याओं पर भी विचार किया है। 'स्वास्थ्य रक्षा', 'शिशु रक्षा' आदि विषयों के अतिरिक्त कुछ संस्मरण और श्री बनारसीदास जी चतुर्वेदी के पत्र भी पुस्तक में दिए गए हैं।

पुस्तक में प्रकाशित लेखों में से कुछ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। श्रीवृन्दावन दास जी की भाषा और अभिव्यक्ति-शैली सरल और सुन्दर है। पुस्तक माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों तथा सामान्य पाठकों के ज्ञानवर्द्धन में सहायक सिद्ध होगी। विषय को रुचिकर बनाने का पूर्ण प्रयास श्री दास जी ने किया है। पुस्तक का मुद्रण स्पष्ट और साफ सुथरा है। आवरण सुन्दर है। पुस्तक के महत्व और मूल्य को देखते हुए कहना पड़ता है कि पुस्तक का मूल्य बहुत अधिक है। पुस्तक का नाम 'निबंध निचय' ही रखा जाता तो अच्छा था, जो प्रत्येक दूसरे पृष्ठ पर छपा है। आशा है कि पाठकों में पुस्तक का आदर होगा तथा पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई है, उसे पूर्ण करने में समर्थ होगी।

—द्विजराम यादव

'रेखाएं और रेखाएं'—सम्पादक, डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, सुधाकर पाण्डेय। प्रकाशक—अनुराग प्रकाशन, वाराणसी। प्रथम संस्करण १९६८, पृ० १६८, मूल्य ४ रुपये।

प्रस्तुत संग्रह 'रेखाएं और रेखाएं' का प्रकाशन निश्चित रूपसे स्वागत योग्य है। इस साफ सुथरी छोटी सी कृति की लघुतर भूमिका के कुछेक पृष्ठों में 'रेखाचित्र' की तात्त्विक मीमांसा प्रस्तुत करते हुए उसका, साहित्य की अन्यान्य विधाओं—संस्मरण, जीवनी, मेम्वायर्ज,

रिपोर्ताज कहानी और निबन्धादि से तुलना करके महत्ता और आवश्यकता पर प्रकाश डाला है। अन्त में 'उद्‌भव और विकास' का संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है।

'चित्रकला में जो कार्य रेखाएं करती हैं, साहित्य में वही काय साथक शब्द करते हैं। जिस प्रकार रेखा चित्रकार कुछ थोड़ी सी रेखाओं के द्वारा सूक्ष्मभावों-एवं रूपों को मूर्त करके एक सजीव चित्र उपस्थित कर देता है, उसी प्रकार रेखाचित्रकार कुछ थोड़े से शब्दों के द्वारा विशिष्ट चरित्रों, वस्तुओं, तत्वों, घटनाओं या अनुभूतियों का चित्रण करते हुए एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। प्रस्तुत संकलन में ऐसे बोस सजीव चित्रों का संग्रह है। इनमें प्रसाद, नेहरू, निराला जेसे महान् और रामा जैसे उपेक्षित व्यक्ति भी हैं तो एक कुत्ता और एक मैना पशु-पक्षी भी हैं, सड़क भी है, बेल गाड़ी भी है। इस प्रकार जीवन के विविध क्षेत्रों को विश्वसनीय जीवन्त तस्वीरे इस संकलन में प्रस्तुत हैं।

'रेखा चित्रकार का मुख्य उद्देश्य अपनी जीवित रेखाओं द्वारा पाठक में संवेदना जागृत करना ही होता है' इसीलिये वह अपने चित्रों को विश्वसनीय बनाने के लिये, अपने अनुभूत जीवन-रस में डुबो कर अभिव्यक्त करता है जो पाठकों के अन्तस्तल को सीधा छूता है।

इस संग्रह में—रामवृक्ष बेनीपुरी की रजिया', बेढब बनारसनी की 'बैलगाड़ी', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'बच्चा महाराज', प्रभाकर की 'यह सड़क बोलती है'। महादेवी के 'रामा' और 'निराला', और हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'एक कुत्ता और एक मैना', इत्यादि चित्र उद्देश्य अथवा शिल्प सभो दृष्टियों से सुन्दर हैं।

वात्सल्य और करुणा के भाव, सूक्ष्म निरीक्षण और चित्रात्मकता महादेवी के चित्रों का वैभव है। इनकी कुशल तूलिका से उरेहा गया प्रत्येक चित्र अपनी आत्मकथा कहता हुआ सा लगता है। उदाहरणार्थ "रामा के सकोण माथे पर खूब घनी भौंहे और छोटी-छोटी स्नेह तरल आँखे कभी-कभी स्मृति-पट पर अंकित हो जाती हैं और कभी धुँधली होते-होते एक दम खो जाती हैं। किसी थके झुंझलाए शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी अनगढ़ मोटी नाक साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए-से ओठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्त पंक्ति के सम्बन्ध में यही सत्य है।

महादेवो, विष्णु प्रभाकर, उग्र, बेनीपुरी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' आदि के रेखाचित्रों में सामाजिक बुराइयों, धार्मिक अन्ध विश्वासों, नैतिक रूढ़ियों एवं विषम सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग प्रधान शैली द्वारा कठोर प्रहार किये गये हैं। बेढब बनारसी ने अपने चित्र में—'अगर कहीं बैलगाड़ी लन्दन की सड़कों पर चलने लगे तो क्या होगा, जहाँ एक से एक गतिवान सवारियाँ चलती हैं। यह भारत ही है कि मोटर की बगल में बैलगाड़ी भी चलती है ठीक वैसे जेसे विड़लों और सिंहानियों की नाक के नीचे अस्थि पंजर वाले मानव भी साँस लेते चले जा रहे हैं। यही एक देश है जहाँ बीसवीं शती में दसवीं शती दिखायी देती है।"

प्रस्तुत सग्रह में सर्व श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवत शरण उपाध्याय, आनद कौशल्यायन और गुलाबरायजी की (उपेक्षा किन्हीं कारणों से हुई हो) रचनाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिये था। स्वर्गीय ब्रजमोहन वर्मा के निबधों, रेखाचित्रों का संग्रह 'साहित्य सौरभ' नाम से प्रकाशित हुआ है। वर्मा जो के कई रेखाचित्र अनुपम हैं, उनके किसी रेखाचित्र को प्रस्तुत सग्रह में स्थान मिलना चाहिए था। उससे पृष्ठों की कुछ सख्या अवश्य बढ़ जाती पर तब यह संग्रह अपेक्षाकृत पूर्ण और और महत्त्वपूर्ण होता।

—सूर्यकुमार योगी

सामयिक निवेदन

महात्मा गान्धी जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में विश्वभारती पत्रिका का एक विशेषांक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। पत्रिका के खण्ड १० का दूसरा अंक (जुलाई-सितंबर १९६९) महात्मा गान्धी जन्मशती विशेषांक के रूप में निकलेगा। महात्मा गान्धी और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर में घनिष्ठ मित्रता थी। अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर दोनों महापुरुषों में मतभेद होने पर भी एक दूसरे के प्रति अनुपम सौहार्द था। दक्षिण अफ्रीका से पहली बार जब महात्माजी भारत लौटे तो अपने फिनिक्स आश्रम के छात्रों को लेकर शान्तिनिकेतन ही आए थे। गुरुदेव के जीवनकाल में महात्मा जी अनेक बार शान्तिनिकेतन आए और गुरुदेव के देहावसान के बाद उनके विद्यालय का महात्मा जी ने ध्यान रखा। गुरुदेव के बड़े भाई द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर से भी महात्मा जी का परिचय प्रगाढ़ था। इस अंक में इन महापुरुषों की मित्रता तथा उनके बीच हुए पत्राचार का पूरा प्रामाणिक विवरण रहेगा। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों के लेख तथा प्रसिद्ध कलाकारों के चित्र रहेंगे। पृष्ठ संख्या साधारण अंक से अधिक रहेगी। विशेषांक का मूल्य बारह रुपये होगा। अंक सीमित संख्या में छपेगा। अत: इच्छुक सज्जन शीघ्र सूचित करें। पत्रिका के ग्राहकों को अंक उसी मूल्य में मिलेगा।

विश्वभारती पत्रिका का वार्षिक मूल्य आठ रुपया है। इस मूल्य में प्रति वर्ष लगभग चारसौ पृष्ठों की सामग्री पाठकों के पास पहुँचती है। इधर सभी वस्तुएँ महँगी हो गई हैं। डाकखर्च भी बढ़ गया है। पत्रिका को काफी घाटा रहता है, फिर भी हम अपने शुभचिंतकों की सहायता से उसे चला रहे हैं। परिस्थिति से बाध्य होकर हमें आगामी वर्ष से पत्रिका का मूल्य वार्षिक नौ रुपया करना पड़ रहा है। आगामी वर्ष के लिए ग्राहक कृपा करके नौ रुपया भेजें। पत्रिका के प्रचार प्रसार में हम सभी हितैषियों का सहयोग चाहते हैं।

—सम्पादक

सूचना

विश्वभारती पत्रिका के वर्ष २, ३, ४, ५, ६, ७ और ८ के अंक उपलब्ध है। प्राप्ति के लिए व्यवस्थापक, विश्वभारती पत्रिका, हिंदी भवन, शान्तिनिकेतन से पत्र-व्यवहार करें। पुस्तकालयों, तथा शोधार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण है।

प्रत्येक वर्ष के चारों अंकों का मूल्य ८)०० रु० है।